दायित्वबोध

त्रैमासिक
जुलाई–सितम्बर 2000
पन्द्रह रुपये

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

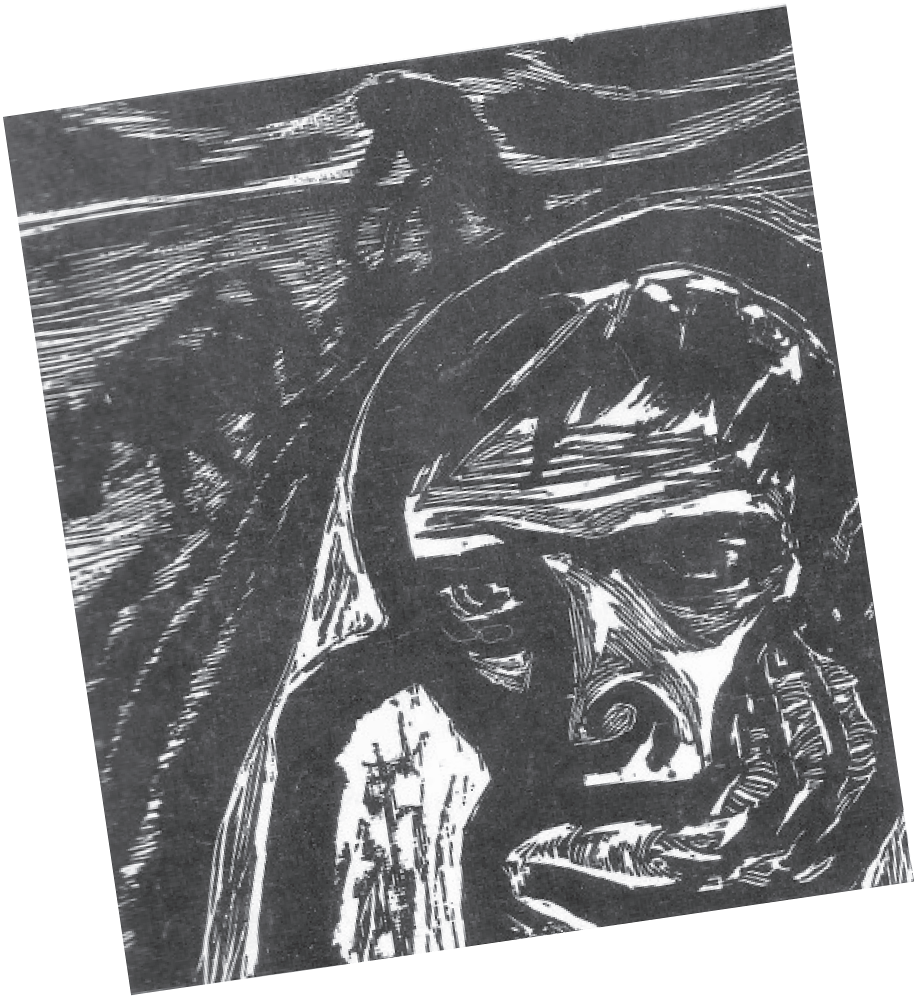

आपातकाल के अनुत्तरित यक्ष–प्रश्न और हमारा समय

स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र

•

समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम

•

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त

•

विश्व व्यापार संगठन, सांख्य वाहिनी, विनिवेश, जेनोम कोड तथा अन्य विषयों पर लेख व टिप्पणियां

हान्स आइसलर का लेख

एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

खत्म करो पूंजी का राज!
लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!

गांव-गांव में अलख जगाकर
विदेशी लूट मिटाएंगे
देशी कफनखसोटों को भी
लड़कर मार भगाएंगे
कसम शहीदों की भारत में
लोक स्वराज बनाएंगे

...''देश के इतिहास के ऐसे मोड़ पर, जब समय के गर्भ में महत्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं, हम पूंजीवादी जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी और तथाकथित पंचायती राज के कपटपूर्ण शगूफे को सिरे से खारिज करने के लिए उन सबका आह्वान करते हैं जो इस व्यवस्था में छले जा रहे हैं, ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, वे ही नई व्यवस्था बनाने के लिए आगे आएंगे। उन्हें आगे आना ही होगा!

...सवाल आज विदेशी गुलामी बनाम स्वदेशी का नहीं है। बल्कि सवाल सम्पूर्ण पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और पूंजीवादी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रणाली को ही नष्ट करने का है, जो अनैतिहासिक और मानवद्रोही हो चुकी है।

21वीं सदी में इतिहास के एजेंडे पर यही केन्द्रीय मुद्दा है। क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा उस पूंजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष का नारा है, जिसने देशी पूंजीपतियों की लूट के साथ ही साम्राज्यवादी देशों और उनकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की लूट के लिए देश के दरवाजे खोल दिये हैं।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान पूंजीवादी जनतंत्र के सभी स्वांगों और छल-छद्मों का भण्डाफोड़ करते हुए वर्तमान संसदीय प्रणाली को सिरे से खारिज करने का और सरकारी पंचायती राज के असलियत को समझने का आह्वान करता है।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान व्यापक परिवर्तन के हर मोर्चे पर सन्नद्ध होने के साथ-साथ गांव-गांव में, शहर के मुहल्लों और मजदूर बस्तियों में जनता की वैकल्पिक सत्ता के क्रान्तिकारी केन्द्रों के रूप में लोक स्वराज्य पंचायतों के गठन का आह्वान करता है।

हम जानते हैं कि, यह रास्ता लम्बा है। पर यही एकमात्र विकल्प है। यही इतिहास का रास्ता है। इसलिए हमारा यह संग्रामी संकल्प है कि ''लोक स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम हर कीमत पर उसे लेकर रहेंगे।''

दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, देहाती मज़दूर-किसान यूनियन, नारी सभा, दायित्वबोध मंच और नौजवान भारत सभा की ओर से पिछले छह वर्षों से चलाये जा रहे
क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पर्चा संख्या-4 के अंश

प्रमुख सम्पर्क : ❑ 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ ❑ 'आह्वान' कार्यालय, संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर ❑ विजयकुमार, 55/3, ई.डब्ल्यू.एस., आवास विकास, रुद्रपुर, ऊधमसिंहनगर ❑ कृष्णगोविन्द सिंह, बी-118, बिड़ला छात्रावास, बी.एच.यू.वाराणसी ❑ सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक, दिल्ली-91

6 आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय

''..पिछले दस वर्षों से भी कुछ अधिक समय के दौरान जो देशव्यापी फासीवादी उभार हिन्दूवादी कट्टरपंथ के रूप में सामने आया है, उसकी चुनौतियां आपातकाल से अधिक खतरनाक हैं। यह शासक वर्ग या उसकी सत्तारूढ़ पार्टी के सामने सहसा आ खड़े हुए किसी राजनीतिक संकट या आर्थिक संकट के किसी सुनिश्चित चक्र के भंवर से निपटने के लिए अपनाया गया फौरी समाधान नहीं है।''

महान जर्मन संगीतकार और संगीत चिन्तक, बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के घनिष्ठ सहयोगी

हांस आइसलर का लेख

29 एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

''...मजदूर, यही वह एकमात्र वर्ग है जो हमारी आंखों के सामने हो रहे बुर्जुआ वर्ग की संगीत संस्कृति के क्षरण और पतन के बाद महान बुर्जुआ संगीत की विरासत को उत्कंठापूर्वक स्वीकार करेगा और आगे बढ़ायेगा। इसी वर्ग से समाजवाद की नई संगीत संस्कृति के निर्माता सामने आयेंगे।

संगीत की नई पद्धतियां बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी मजदूरों के रोजमर्रा के संघर्ष में ही उभरेंगी; और एक नई संगीत संस्कृति तभी निर्मित होगी जब मजदूर सत्ता पर काबिज होंगे और समाजवाद का निर्माण करेंगे।''

मई दिवस के शहीदों की स्मृतियों से गुजरते हुए

—लेसली विस्कमैन

आठ घंटे काम के दिन की मांग को लेकर दुनिया भर के मजदूरों के दशकों चले संघर्ष और अनगिनत कुर्बानियों के बाद यह मांग मानी गई थी। आज जब भूमण्डलीकरण के बुलडोजर से मजदूर आन्दोलन की समस्त उपलब्धियों को रौंदा जा रहा है, मजदूरों से 12-12, 14-14 घंटे काम लेकर जीने भर की मजदूरी नहीं दी जा रही है और मजदूरों को बेजुबान औजारों में तब्दील करने की कोशिश की जा रही है तो शिकागो के उन वीर मजदूर नायकों की याद प्रेरणादायी है जिन्होने आठ घंटे काम के दिन की लड़ाई में अपनी शहादत से मजदूरों को उनका लाल झण्डा और मई दिवस का त्योहार दिया। **47**

स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र

—मार्गरेट बेन्सटेन

''...समाज में स्त्रियों की हैसियत स्पष्टत: पुरुषों से कमतर होती है, परन्तु इस स्थिति का विश्लेषण करते समय बहुधा समाजीकरण, मनोविज्ञान, अन्वैयक्तिक सम्बन्धों अथवा एक सामाजिक संस्था के रूप में विवाह की भूमिका जैसे कारणों पर चर्चा होने लगती है। प्राथमिक कारक क्या यकीनन यही हैं? इस बात पर बहस चलायी जाये कि औरतों के दोयम दर्जे की हैसियत का मूल आधार वस्तुत: आर्थिक है तो यह प्रमाणित किया जा सकता है कि बतौर एक समूह औरतों का उत्पादन के साधनों से एक सुनिश्चित सम्बन्ध होता है जो पुरुषों के सम्बन्ध से भिन्न होता है। वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक कारक उत्पादन के साथ इस विशिष्ट सम्बन्ध के बाद आते हैं और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन इन्हें बदलने की एक अनिवार्य शर्त है (परन्तु पर्याप्त नहीं)। **40**

इस अंक में

आपकी बात 4

अपनी बात

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष-प्रश्न और हमारा समय **6**

लेख

विश्व व्यापार संगठन और उसकी आक्टोपसी भुजाएं **13**

विनिवेश पर आमादा सरकार **18**

भ्रष्टाचार की सांख्यवाहिनी **20**

सार्वजनिक क्षेत्र की घोषित हड़ताल वापस क्यों हुई? **22**

मानव का जीन मानचित्र तैयार **24**

मेक्सिको : सत्ता परिवर्तन के निहितार्थ **26**

संस्कृति चिन्तन

एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता / *हांस आइसलर* **29**

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख

समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम **37**

आधी ज़मीन आधा आकाश

स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र **40**

मई दिवस के शहीदों की स्मृतियों से गुजरते हुए **45**

महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था **51**

साहित्य

मृत ज्वाला / *लू शुन* **53**

आर्थिक-राजनीतिक टिप्पणियां

भारतीय अर्थव्यवस्था:...वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है! • नई आयात-निर्यात नीति : गुलामी का आयात—आजादी का निर्यात • नये श्रम कानूनों का सूत्र वाक्य : 'हायर एंड फायर' • भारत-इस्रायल सम्बन्ध : दूरियां क्यों बनीं नजदीकियां? • अमेरिका की नयी मिसाइल-रोधी रक्षा प्रणाली : साम्राज्यवादी वर्चस्व को बचाने की हताशाभरी कोशिश **54-60**

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (अध्याय 20-21)

राज्य, समूह और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों को सही ढंग से हल करो समाजवादी समाज में व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण किस प्रकार होता है **61**

वही कला असली है जो जीवन को प्रतिबिम्बित करे। उसमें सारे अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष, प्रेरणाएं, विजय, पराजय और जीवन के प्रति प्यार और मानव के व्यक्तित्व के कुल पहलू मिलते हों। वही असली कला है जो जीवन के विषय में गलत धारणाएं न दे।

—नाजिम हिकमत

दायित्वबोध

वर्ष-7 अंक 1; जुलाई-सितम्बर 2000

प्रधान सम्पादक : **विश्वनाथ मिश्र**
सहायक सम्पादक : **अरविन्द सिंह**
संयुक्त सम्पादक : **ओमप्रकाश सिन्हा**
सत्यम वर्मा
सज्जा : **रामबाबू**
आवरण का चित्र : **स्तासिस क्रासोस्कास** (लिथुआनिया)

सम्पादकीय कार्यालय :
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010 फोन : 308896

एक प्रति : 15 रुपये
वार्षिक : 60 रुपये
आजीवन : 1000 रुपये

●

सम्पादन एवं संचालन
पूर्णत: अवैतनिक एवं अव्यावसायिक

कम्पोजिंग : **कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226 010**

स्वत्वाधिकारी विश्वनाथ मिश्र द्वारा एम.आई.जी. 134, राप्तीनगर फेज-एक, गोरखपुर से प्रकाशित एवं उन्हीं के द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित

आपकी बात

— 'दायित्वबोध' जुलाई-सितम्बर '99 का अंक मिला। पूर्व की भांति भरपूर पठनीय सामग्री है। पत्रिका का अधिक प्रचार-प्रसार हो इसके लिए सभी साथियों को प्रयास करने चाहिए। आज की स्थिति में यह बहुत जरूरी है। बदलाव में 'दायित्वबोध' की महती भूमिका होगी। जागरूक नागरिकों को 'दायित्वबोध' मार्ग निर्देशन दे रहा है।

—भागीरथ भार्गव, 88, आर्यनगर, अलवर

— 'दायित्वबोध' जुलाई-सितम्बर '99 का अंक मिला। एन.जी.ओ. के बारे में इसके पहले भी सामग्री आयी लेकिन मैं वंचित रह गया था। फिर भी इस अंक की 'अपनी बात' अपने आप में सन्तुष्ट कर देती है। इतना सटीक विश्लेषण किया है कम्युनिस्ट घोषणापत्र के द्वारा कि ''बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा इसलिए सामाजिक व्यथाओं को दूर करना चाहता है कि बुर्जुआ समाज को बरकरार रखा जा सके।'' इस 'पवित्र' कार्य में रिटायर्ड कम्युनिस्ट अच्छे सहायक अवश्य हैं और इस बात को अगर स्वतंत्रता के बाद से एच.एस.आर.ए. के बचे-खुचे लोगों के कांग्रेस जैसी घोर बुर्जुआ पार्टी के साथ चले जाने से जोड़कर देखें तो मन्मथनाथ गुप्त सामने खड़े दिखाई देते हैं। कृषि सम्बन्धी लेखों के आंकड़े और अपनी प्रासंगिकता की वजह से यह अंक संग्रहणीय है। 'कम्युनिस्ट लीग का इतिहास' तथा राजनीतिक टिप्पणियां बहुत अच्छी बन पड़ी है। टिप्पणियों के सभी लेखकों को बधाई। दायित्वबोध जैसी ऊर्जस्वी पत्रिका का लगातार निकलना आज के वास्तविक कम्युनिस्ट आन्दोलन के लिए निहायत आवश्यक है। कृपया इसे बन्द न करें।

—प्रमोद, रक्षा सेवा स्टाफ कालेज, वेलिंगटन (नीलगिरी), तमिलनाडु

— आज जब पूरा देश पूंजी की मार से तबाह है; धर्म, जाति, भ्रष्टाचार के कीड़े मानवीय मूल्यों की जड़ें लगातार कुतरने में लगे हैं, लफंगे, झूठे, लुटेरे, मुखौटेधारी लोग जन-प्रतिनिधि बनकर जन-जीवन और देश के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं; तथाकथित बौद्धिकों का बड़ा वर्ग अन्तरराष्ट्रीय वैचारिक भ्रमजाल का देशी विस्तार करने में अपने को धन्य समझ रहा है, 'दायित्वबोध' क्रान्तिकारी जागरण के अपने दायित्व को सफलतापूर्वक निभा रहा है। इसका हर अंक समय की मांग के अनुकूल है, राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय, ऐतिहासिक और समसामयिक समस्याओं से प्रभावी ढंग से टकराता है, धुंधलका दूर करते हुए अपेक्षित मार्ग प्रशस्त करता है। भारतीय समाज को हिन्दी के माध्यम से एक महत्वपूर्ण पत्रिका प्रदान करने के लिए आप सभी प्रशंसा के पात्र हैं। जुलाई-सितम्बर'99 के अंक में स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों पर आपकी बात, फांग कांग, चार्ल्स डब्ल्यू चेङ, ली ओनेस्टो, ललित सती, अरविन्द एवं प्यारेलाल जी के लेख तथा सर्वहारा चेतना केन्द्र की रचना विशेष महत्व के हैं। थियेटर पर बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की कृति रचनात्मक चेतना के वैज्ञानिक विकास में सहायक है। नजरुल इस्लाम पर विष्णुचन्द्र शर्मा के विचार पसन्द आये।

—शम्भु बादल, जबरा रोड, कोर्रा, हजारीबाग, बिहार

— जुलाई-सितम्बर 1999 अंक बहुत ही अच्छा लगा। स्वयंसेवी संगठनों पर लिखा लेख बहुत ही प्रासंगिक है। जनआन्दोलनों के मंच में भी भारी संख्या में एन.जी.ओ. की भागीदारी है। वास्तविक संघर्षों और प्रायोजित संघर्षों के अन्तर को जनता के सामने लाने की बहुत ही जरूरत है।

'तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा' शोधपूर्ण आलेख है। इस तरह का आलेख प्रत्येक अंक में एक विषय पर जरूर देना चाहिए।

भविष्य सार्थक संघर्षों का ही होगा।

—केसर, आजादी बचाओ आन्दोलन, गांधी भवन, चैथम लाइन्स, इलाहाबाद

— 'दायित्वबोध' अपने उद्देश्यों में सफल पत्रिका है। इसका दो साल पुराना पाठक हूं

और भविष्य में भी इसे पढ़ते रहने की तबियत है। सन् 2000 में भी यह इसी तरह अपना काम करती रहेगी, ऐसी उम्मीद है।

आपके द्वारा किये गये अनुवादों की जानकारी है। मूल कृतियों से अनजान हूं। इसके मुतल्लिक जानकारी मिलेगी तो अच्छा लगेगा।

एक दरख्वास्त और। आप एजाज अहमद को सामाजिक-जनवादी विभ्रम-मतिभ्रमग्रस्त बताते हैं। आपने इन नुक्तों की ओर इशारा भी किया है—

1. दरीदा को दक्षिणपंथी न मानने के बारे में।
2. सीपीआई (एम) की अवस्थिति पर उनके विचार के बारे में।

मैंने उन्हें जगह-जगह पढ़ा है। आजकल 'In Theory' पढ़ रहा हूं। आपका उनके साथ विमर्श हुआ हो तो इसके प्रति लिखियेगा। अन्यथा उनके विचारों पर अपनी राय का खुलासा कर मार्क्सवाद को समझने में मदद करें।

—मनोज, दरभंगा (बिहार)

— 'दायित्वबोध' लगभग 5-6 वर्षों से निरन्तर प्राप्त होता रहा है। वैचारिक धरातल एवं विषयों चयन एवं विश्लेषण उच्च कोटि का होता है। इतनी विशिष्ट सामग्री के चयन एवं प्रकाशन हेतु हार्दिक अभिनन्दन।

पिछले अंकों में कवि नजरुल इस्लाम एवं निराला पर सामग्री एवं जनवरी-फरवरी 2000 अंक में आलोक श्रीवास्तव का लेख 'कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ?' बहुत ही अच्छा लगा।

—रामेश्वर प्रसाद सिंह
भुरोखा स्थान, दरभंगा

—'दायित्वबोध' जुलाई-सितम्बर '99 अंक के सम्पादकीय में आपके विचारों से सहमत हुआ जा सकता है। स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क वास्तव में खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र है जिससे हमें, समाज, राष्ट्र और वाम-संगठनों को बचाना होगा। पूंजीवादी देशों द्वारा वाम-दर्शन और वामपंथी आन्दोलन में बिखराव लाने की यह एक खास तरह की साजिश है। दुनिया में जहां-जहां वर्ग-संघर्ष तीखा हुआ है, वहां-वहां एन.जी.ओ. अपनी कारगुजारियों में शामिल अपने हित साधने में लगे हैं। अतः हमारा दायित्व बनता है कि क्रान्तिकारी शिविर और आम लोगों को एन.जी.ओ. के बारे में बतलायें। भूपेश कुमार सिंह/प्यारेलाल का विशेष आलेख 'तीसरी दुनिया में कृषि अनुसंधान का ढांचा'— काफी अच्छा लगा। तीसरी दुनिया में कृषि अनुसंधान की ढांचागत स्थितियां और पश्चिमी कारपोरेट नियंत्रित संस्थानों की पोल खोलता है। वस्तुतः तीसरी दुनिया के राष्ट्रों में कृषि अनुसंधान के बहाने पश्चिमी राष्ट्रों का लाभ-हित अधिक है। वे साम्राज्यवादी शोषण के शिकंजे में हैं। 'भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न' आलेख भारतीय क्रान्ति में कृषक व कृषि-कारकों की भूमिका और पूंजी पर विशद चर्चा करता है।

डी. र्याजानोफ का आलेख 'कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास' खोजपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक है। संघर्षों, तकलीफों एवं विचारधारात्मक टकराहटों को आलेख में बखूबी दर्शाया गया है। अंक की यह धरोहर है।

—कलाधर, सं. 'कला', पूर्णियां

दायित्वबोध यहां से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, **गोरखपुर** • जनचेतना, जाफरा बाजार, **गोरखपुर** • विजय इन्फार्मेशन सेंटर, कचहरी बस स्टैण्ड, **गोरखपुर** • राहुल फाउण्डेशन, 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, **लखनऊ** • जनचेतना स्टाल, निकट काफी हाउस, हजरतगंज, **लखनऊ** (शाम पांच से साढ़े आठ) • ओ.पी. सिन्हा, 69, बाबा का पुरवा, निशातगंज, **लखनऊ** • विमल कुमार, मैग्जीन स्टाल, निकट नीलगिरि काम्प्लेक्स, ए ब्लाक, इंदिरानगर, **लखनऊ** • इण्डियन बुक डिपो, अमीनाबाद, **लखनऊ** • विश्वनाथ मिश्र, चेतना कार्यालय, **बड़हलगंज, गोरखपुर** • शहीद पुस्तकालय, द्वारा, डा. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, **मर्यादपुर, मऊ** • कृष्णगोविन्द सिंह, बी-18, बिड़ला छात्रावास, बीएचयू, **वाराणसी** • श्री मुचकुंद, प्रोग्रेसिव बुक सेंटर, विश्वनाथ मंदिर गेट,बीएचयू, **वाराणसी** • प्रो. प्यारेलाल, 139, फूलबाग कालोनी, पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, **पंतनगर** • डी.के. सचान, कृषि विज्ञान केन्द्र, 243, विकास भवन, नई कलक्ट्रेट, गाजियाबाद • रवीन्द्र कुमार, भारतीय जीवन बीमा निगम, शाखा कार्यालय, **पंतनगर** • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, (फूलबाग के सामने), **कानपुर** • प्रतिभा प्रकाशन, (पेप्सी होटल के नीचे), स्टेशन रोड, **बलिया** • राजेन्द्र प्रसाद, रेणु मेडिकल की गली, मुख्य सड़क, रेणुकूट, **सोनभद्र** • नेशनल न्यूज एजेन्सी, पल्टन बाजार, **देहरादून** • डा. पी.एस. कुशवाहा, ओल्ड हास्टल, सेंट जॉन्स कालेज, आगरा-2

दिल्ली • सत्यम वर्मा, 81, समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक • बुक कार्नर, श्रीराम सेंटर, मण्डी हाउस • गीता बुक सेण्टर, शापिंग काम्प्लेक्स, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय • पत्रिका मण्डप, दिल्ली वि.वि. कोआपरेटिव स्टोर्स लि., दिल्ली विश्वविद्यालय • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, मरीना होटल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • पीपुल ट्री, 8, रीगल बिल्डिंग, कनाट प्लेस • विजय मैग्जीन स्टाल, रिजर्व बैंक के पास, संसद मार्ग

बिहार • समकालीन प्रकाशन, पुस्तक बिक्री केन्द्र, आजाद मार्केट, पीरमुहानी, **पटना** • पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, पटना कालेज के सामने, **पटना** • जिज्ञासा प्रकाशन, झेलम अपार्टमेंट, राजेन्द्रनगर, **पटना** • मैग्जीन कार्नर, नाला रोड, दिनकर चौक, **पटना** • अविनाश कुमार सिन्हा/रणजीत कुमार श्रीवास्तव, द्वारा, शैलेन्द्र श्रीवास्तव, बरियारी चक, पो. **मेंहसी, पूर्वी चम्पारण** • वी. प्रशान्त, कन्हौली (बी. एम.पी.-6 से पूरब), **मुजफ्फरपुर** • रामपुकार सिंह, ग्रा. पो.भदई, जि.-**मुजफ्फरपुर** • विद्यानन्द सिंह, वार्ड न. 4, **सुपौल** • भुवन वेणु, 'प्रतीक्षा', मधुबनी, चूनापुर रोड, **पूर्णिया** • लक्ष्मीकांत मुकुल, द्वारा श्री सिंहासन मिश्र, टीचर्स कालोनी, चरित्रवन, **बक्सर** • कौशल कुमार सिंह, पूर्व सचिव, जिला विधिज्ञ संघ, **गोपालगंज** • गोवर्धन सिंह, ग्रा. चुटिया, पो. गोदरमाना, थाना-रंका **(गढ़वा) -822125**

महाराष्ट्र • परिदृश्य प्रकाशन, 6, दादी संतुक लेन, इंजीनियर हाउस, धोबी तालाब, **मुम्बई** • सतीश कालसेकर, पीपुल्स बुक हाउस, मेहर हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट, **मुम्बई** • शैलेश वाकड़े, विजयालक्ष्मी नगर, टीचर्स कालोनी, बल्लारपुर, **चन्द्रपुर** • सूर्यदेव उपाध्याय, लेनिन लाइब्रेरी, उल्हासनगर, जि.-**ठाणे**

हिमाचल प्रदेश • एस.आर. हरनोट, हिमाचल पर्यटन विकास निगम, रिट्ज एनेक्सी, **शिमला**

हरियाणा • नरभिंडर सिंह, शहीद भगतसिंह विचार मंच, हरियाणा, ग्रा.-पो.-संतनगर, जि.-**सिरसा** • राजीव रंजन, द्वारा पाश पुस्तकालय, पुलिस लाइन, **करनाल** • सुरेश जांगिड़, अक्षर धाम, सुकीर्ति प्रिंटर्स, डी.सी. निवास के सामने, करनाल रोड, **कैथल**

राजस्थान • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधों की गली, एम.डी. रोड, **जयपुर** • सुभाष शर्मा, 221, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर

प. बंगाल • श्याम अविनाश, पी.एन. घोष स्ट्रीट, **पुरुलिया** • राकेश गोरखा, सरस्वती पुस्तक मन्दिर, प्रधाननगर, सिलीगुड़ी, **दार्जीलिंग** • बुक मार्क, 6, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, **कलकत्ता** • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआटोला लेन, **कलकत्ता** • जनार्दन थापा, लुकसान बाजार, पो.आ.-केरन, जि.-**जलपाईगुड़ी** • ओमप्रकाश पाण्डेय, प्राध्यापक, 35/डी, सेंट्रल कालोनी, पो. भक्तिनगर, **न्यू जलपाईगुड़ी** • सी.पी. सरोज, सनराइज स्कूल, छोटा अदलपुर, सेमलबाड़ी, **दार्जीलिंग**

आन्ध्र प्रदेश • गोविन्द अक्षय, 'सारस्वत सदन', 13/6/411/2, रामसिंहपुरा, कारवान, **हैदराबाद**

मध्यप्रदेश • जयप्रकाश जायसवाल, 'पितृछाया,' अमृत सागर कालोनी, एम.आई.जी. 96-97, **रतलाम** • चिंचोलकर बुक हाउस, बस स्टैण्ड, **जगदलपुर, बस्तर** • 'विकल्प' सांस्कृतिक मोर्चा, 22, स्वास्तिक काम्प्लेक्स, रसल चौक, **जबलपुर**

असम • शर्मा बुक स्टाल, थाना रोड, चराली, **तिनसुकिया**

नेपाल • विश्व नेपाली पुस्तक सदन, श्रवणपथ, **बुटवल, रुपनदेई** •

आपातकाल के कुछ अनुत्तरित यक्ष–प्रश्न और हमारा समय

पच्चीस वर्ष पूरे होने के अवसर पर, आपातकाल के काले दिनों को एक बार फिर याद किया गया। अलग–अलग राजनीतिक धाराओं के लोगों ने अलग–अलग आयोजनों में अपने–अपने ढंग से यह काम किया। पूंजीवादी मीडिया में भी काफी कुछ छपा। क्रान्तिकारी वामपंथी संगठनों और जन संगठनों ने भी इस अवसर पर कुछ सभाएं–गोष्ठियां, जुलूस–प्रदर्शन आयोजित किये और आपातकाल के अनुभवों से सीखकर हिन्दू कट्टरपंथी शक्तियों के वर्तमान फासीवादी उभार के कारगर प्रतिरोध की नीति–रणनीति तैयार करने पर बल दिया।

कट्टरपंथी हिन्दुत्व की फासीवादी लहर पर सवार होकर सत्ता तक पहुंचने वाली भाजपा ने भी आपातकाल को याद करते हुए यह घोषणा की कि वह तत्कालीन कांग्रेसी सरकार के अत्याचारों का सिलसिलेवार पर्दाफाश करेगी। रंग पोतकर शहीद बनने वाले संघियों को यह याद दिलाया जाना चाहिए कि उनमें से कितने लोग आपातकाल के दौरान माफीनामा लिखकर जेलों से बाहर आये थे और किस तरह तत्कालीन सरसंघचालक बाला साहब देवरस ने जेल से रिहाई और आर.एस.एस. से प्रतिबंध हटाने की शर्त पर बीस–सूत्री कार्यक्रम को समर्थन देने के लिए श्रीमती गांधी को संदेश भिजवाया था। और यह भी कि आपातकाल के कई चर्चित चेहरे, जैसे कि मेनका गांधी, ममता बनर्जी, जगमोहन आदि आज सत्ता में भाजपा के पार्टनर हैं। वैसे यह सवाल तो जार्ज फर्नाण्डीस से भी पूछा जा सकता है और एक दूसरे स्तर पर वी.पी. सिंह से भी। आज वी.पी. सिंह दिल्ली के झुग्गी–झोंपड़ी वासियों के मसीहा बने फिर रहे हैं, पर इसी जगमोहन की रहनुमाई में आपातकाल के दौरान जब जामा मस्जिद क्षेत्र के गरीबों पर बुलडोजर चला था, तब वे एक निहायत वफादार कांग्रेसी थे और आपरेशन ब्लू स्टार के समय भी वे कांग्रेस में ही थे। बहरहाल, यह चर्चा बेमानी है क्योंकि बुर्जुआ राजनीति का कोई भी पैंतरापलट या कायाकल्प आज किसी को चौंकाता नहीं।

जिन सर्वोदयियों–गांधीवादियों–समाजवादियों और बुर्जुआ दलों ने तथा जिन चुनावी वामपंथियों ने (भाकपा को छोड़कर, जो आपातकाल का समर्थन कर रही थी) आपातकाल का विरोध किया था, उनकी राजनीति का चरित्र आज साफ हो चुका है। मौजूदा दौर में फासीवादी उभार ने जो नई चुनौती पेश की है, उसके रस्मी और दन्त–नखहीन विरोध से आगे इनमें से कोई नहीं जाने वाला। फासीवादी शक्तियों के विरुद्ध सांस्कृतिक–वैचारिक मोर्चे की महत्ता निर्विवाद है और बुर्जुआ संसदीय राजनीति के प्लेटफार्मों के रणकौशलात्मक (टैक्टिकल) इस्तेमाल से या मध्यमार्गी, सुधारवादी निम्न–बुर्जुआ शक्तियों के साथ मोर्चा बनाने की जरूरत से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन सबसे बुनियादी बात यह है कि व्यापक मेहनतकश आबादी को गोलबन्द किये बगैर फासीवाद की नई चुनौतियों का कारगर जवाब नहीं दिया जा सकता। जनता के राजनीतिक संघर्षों को तिलांजलि देकर संसद में बैठा हुआ और राज्यों में सरकार चलाने वाला परम्परागत संसदीय वाम तो आज मजदूरों के आर्थिक हितों और न्यूनतम अधिकारों की भी हिफाजत नहीं कर पा रहा है। फिर उससे रस्मी कवायदों से अधिक कुछ की उम्मीद करना वैसे भी बेकार है। इस मायने में अपेक्षाएं और उम्मीदें, फिर भी, गतिरोध और बिखराव की तमाम दुरवस्था के बावजूद, क्रान्तिकारी वाम की शक्तियों से ही की जा सकती हैं, और उन्हीं से की भी जानी चाहिए।

इस सन्दर्भ में, आज की स्थितियों की जमीन पर खड़े होकर, पश्चदृष्टि से आपातकाल को देखना और समाहार करना तथा आने वाले समय के लिए जरूरी सबक निकालना क्रान्तिकारी वाम धारा के लिए बहुत जरूरी है।

साथ ही, आपातकाल के ऐतिहासिक मूल्यांकन का सवाल पूरे भारतीय पूंजीवादी जनतंत्र के चरित्र और विकास-प्रक्रिया से जुड़ा है, जिसकी एक सुसंगत समझ हासिल किये बिना हिन्दू कट्टरपंथी फासीवादी उभार की परिघटना को भी सही ढंग से नहीं समझा जा सकता।

●

आपातकाल समकालीन भारतीय इतिहास की कोई अप्रत्याशित या अनपेक्षित घटना या परिघटना कदापि नहीं था। ऐसा भी नहीं था कि इसके कारण इन्दिरा गांधी के व्यक्तित्व में या कांग्रेस के शासन में निहित थे। इन्दिरा गांधी के चुनाव को उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दिये जाने या जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में चल रहे देशव्यापी आन्दोलन जैसी कुछ महत्वपूर्ण तात्कालिक घटनाओं में ही इसका कारण खोजना भी बेमानी होगा। इस घटना को भारतीय पूंजीवादी जनवाद की विकास-प्रक्रिया की एक कड़ी या मुकाम के रूप में देख-समझकर ही सही नतीजों तक पहुंचा जा सकता है और जरूरी सबक हासिल किये जा सकते हैं।

साठ के दशक के उत्तरार्द्ध से ही भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था का जो संकट गहराता जा रहा था, वह 1974-75 तक विस्फोटक रूप ले चुका था। व्यापक जन असंतोष उभारों-आन्दोलनों के रूप में लगातार यहां-वहां फूटते हुए 1974 तक देशव्यापी बन चुका था। संकट ने शासक वर्गों के बीच के अन्तरविरोधों-टकरावों को भी तीखा कर दिया था। तत्कालीन सत्तारूढ़ पार्टी ने इन्हीं संकटों से निजात पाने के लिए, संविधान के ही प्रावधान का इस्तेमाल करते हुए जून, 1975 में आन्तरिक आपातकाल लागू कर दिया। जनता के अति सीमित जनवादी अधिकार भी छीन लिये गये और निरंकुश स्वेच्छाचारी दमनतंत्र स्थापित कर दिया गया जो उन्नीस महीनों तक जारी रहा।

आपातकाल का आतंक-राज्य खुले तौर पर और अचानक कायम किया गया था। जनता के जीने के बुनियादी अधिकार तक को घोषित तौर पर स्थगित कर दिया गया था। आज यह काम, अघोषित तौर पर, किश्तों में और शातिराने ढंग से किया जा रहा है। भाजपा-गठबंधन के सत्तासीन होने के एक दशक पहले से ही यह प्रक्रिया जारी रही है। आडवाणी की रथयात्रा के समय से लेकर अबतक, हिन्दू कट्टरपंथ की संघ परिवार-प्रणीत फासीवादी लहर ने व्यापक आम जनता पर जो कहर बरपा किया है, वह आपातकालीन सर्वसत्तावादी शासन के दमन-चक्र से किसी मायने में कमतर नहीं ठहराया जा सकता। फासीवादी उभार के वर्तमान दौर की दो बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। **पहली** यह कि भाजपा गठबंधन सत्ता में रहे या न रहे, भारतीय समाज के सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक ताने-बाने में संघ परिवार और इस तरह की अन्य फासीवादी शक्तियों की मौजूदगी बनी रहेगी, क्योंकि उदारीकरण-निजीकरण के मौजूदा जारी दौर के स्वाभाविक परिणाम के रूप में संभावित मेहनतकश अवाम की प्रतिरोधात्मक एकता को तोड़ने के लिए आज बड़े पूंजीपति वर्ग का बहुलांश और साम्राज्यवादी शक्तियां ''नियंत्रित'' फासीवाद की लगातार मौजूदगी की पक्षधर हैं। वे उसे जंजीर से बंधे शिकारी कुत्ते की तरह मजदूर वर्ग और व्यापक जनता के खिलाफ लगातार तैनात रखना चाहती हैं।

पिछले दस वर्षों से भी कुछ अधिक समय के दौरान जो देशव्यापी फासीवादी उभार हिन्दूवादी कट्टरपंथ के रूप में सामने आया है, उसकी चुनौतियां आपातकाल से अधिक खतरनाक हैं। यह शासक वर्ग या उसकी सत्तारूढ़ पार्टी के सामने सहसा आ खड़े हुए किसी राजनीतिक संकट या आर्थिक संकट के किसी सुनिश्चित चक्र के भंवर से निपटने के लिए अपनाया गया फौरी समाधान नहीं है।

दूसरी बात, जो और अधिक महत्वपूर्ण है, वह यह कि राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वातंत्र्योत्तर काल में (विकलांग और बाधित ही सही) पूंजीवादी विकास के लगभग ढाई-तीन दशकों की सापेक्षिक गतिशीलता और फिर ठहराव के एक अन्तराल के बाद पिछले दशक में भारतीय पूंजीवादी व्यवस्था के ढांचागत संकट का एक नया दौर शुरू हो चुका है। कहना नहीं होगा कि यह संकट विश्व-पूंजीवाद के मौजूदा अभूतपूर्व ढांचागत संकट का ही एक अंग और प्रतिफल है। भूमण्डलीकरण की नीतियां विश्व-पूंजीवाद के संकट का ज्यादा से ज्यादा बोझ गरीब देशों में स्थानान्तरित कर रही हैं। आर्थिक तौर पर, भारत जैसे इन देशों में पूंजीवादीकरण की प्रक्रिया आज भी जारी है, पर देशी-विदेशी पूंजी की ''अतिलाभ'' निचोड़ने की हवस और परजीवी वित्तीय पूंजी के निर्णायक, सम्पूर्ण वर्चस्व ने इन देशों की पूरी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक अधिरचना के फासिस्टीकरण की प्रक्रिया तेज कर दी है। भारतीय पूंजीवाद का सर्वग्रासी संकट आज इस स्थिति में पहुंच चुका है कि इसके दबाव से भारतीय पूंजीवादी जनवाद के सीमान्तों की बाड़ेबन्दी चरमरा रही है, पूंजीवादी राज्यसत्ता अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से, विश्व पूंजी के बौद्धिक चाकरों और देशी पूंजीवादी सिद्धान्तकारों की देखरेख में सर्वसत्तावादी चरित्र अपनाती जा रही है तथा संविधान और बुर्जुआ जनवाद की अन्य संस्थाएं महज खोखल में तब्दील होती जा रही हैं। आधी सदी की उम्र पार करके भारत का (जन्मना रुग्ण और विकलांग) बुर्जुआ जनवाद क्षरित-स्खलित होकर बुर्जुआ सर्वसत्तावाद के एक नये दौर में प्रविष्ट हो रहा है। यह पूरे शासक वर्ग की विवशता है।

यही उसके सामने एकमात्र विकल्प है। उसने अपनी आवश्यकता और बाध्यता के रूप में निर्बंध बाजारीकरण का जो मार्ग चुना है, उसके लिए एक निरंकुश सत्ता-तंत्र अनिवार्य होगा। और यह स्वाभाविक ही है कि इसके गठन और 'ट्रायल' की जिम्मेदारी आज मुख्यत: भाजपा के कंधों पर है, जो क्लासिकी अर्थों में फासिस्ट संगठन आर.एस.एस. की संसदीय राजनीतिक शाखा है और जो भारतीय राजनीति में गत आधी सदी से (पहले जनसंघ के रूप में) सक्रिय उपस्थिति बनाये हुए है। धार्मिक कट्टरपंथी उभार का, पूरी दुनिया, और हमारे देश के स्तर पर आर्थिक कट्टरपंथ के उभार से बुनियादी रिश्ता है। भारत में हिन्दुत्ववादी धार्मिक कट्टरपंथ हमेशा आर्थिक कट्टरपंथ के लिए उपयोगी भूमिका निभाये या न निभाये, आज वह इसके लिए उपयुक्त राजनीतिक ढांचा खड़ा करने तथा सामाजिक आधार तैयार करने में अहम भूमिका निभा रहा है। कल यदि भाजपा शासन में न भी रहे, तो भी राज्यतंत्र के व्यवस्थित फासिस्टीकरण की प्रक्रिया रुकने वाली नहीं है। शासन चाहे बुर्जुआ वर्ग की किसी भी पार्टी या गठबंधन के हाथों में हो, उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल जारी रहेगा और इसके लिए सत्तातंत्र का ज्यादा से ज्यादा निरंकुश सर्वसत्तावादी होते जाना भी अनिवार्य होगा। इसलिए, हमारी यह स्पष्ट मान्यता है कि भले ही क्लासिकी अर्थों में फासिस्ट चरित्र वाली अग्रणी और प्रतिनिधि पार्टी भाजपा है, लेकिन आने वाले दिनों में फासिस्ट निरंकुशशाही का खतरा हर उस बुर्जुआ पार्टी की ओर से हो सकता है, जिसे सत्तासीन होने का अवसर प्राप्त हो।

●

आज पीछे मुड़कर देखने पर यह लगता है कि भारत में पूंजीवादी जनवाद के अमल की आधी सदी के दौरान उन्नीस महीने का आपातकाल एक अल्पकालिक विचलन था, जिससे भारतीय शासक वर्ग, यदि अनुभवी होता, या शासन-सूत्र यदि उसके अधिक परिपक्व एवं कुशल प्रतिनिधियों के हाथों में होता, तो बचा भी जा सकता था। उन्नीस महीने बाद संसदीय चुनाव हुए और बुर्जुआ जनवाद बहाल हो गया, इसीलिए कि ऐसा उस समय तक सम्भव था। बुर्जुआ व्यवस्था में इसके लिए अभी गुंजाइश बची हुई थी।

आज समाज में फासीवादी शक्तियां अपने सामाजिक आधार को जिस व्यवस्थित ढंग से मजबूत बना रही हैं ओर जिस व्यवस्थित ढंग से बुर्जुआ राज्यसत्ता का फासिस्टीकरण हो रहा है, उसका कारण यह है कि आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक धरातल पर भारतीय पूंजीवाद आज जिस प्रक्रिया से गुजर रहा है, वह अनुत्क्रमणीय (इर्रिवर्सिबल) है। इसे पलटा नहीं जा सकता। व्यापक जनउभार के खतरों के बावजूद जो ढांचागत संकट भारतीय पूंजीपति वर्ग को निर्बाध उदारीकरण-निजीकरण की नीतियां अपनाने के लिए विवश कर रहा है, वही पूंजीवादी जनवाद के विरूपण-क्षरण-विघटन का भी बुनियादी कारण है।

धार्मिक कट्टरपंथी उभार का, पूरी दुनिया, और हमारे देश के स्तर पर आर्थिक कट्टरपंथ के उभार से बुनियादी रिश्ता है। भारत में हिन्दुत्ववादी धार्मिक कट्टरपंथ हमेशा आर्थिक कट्टरपंथ के लिए उपयोगी भूमिका निभाये या न निभाये, आज वह इसके लिए उपयुक्त राजनीतिक ढांचा खड़ा करने तथा सामाजिक आधार तैयार करने में अहम भूमिका निभा रहा है।

विश्व-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो पूंजीवादी जनवाद का क्षरण एक भूमण्डलीय प्रवृत्ति या परिघटना प्रतीत होती है जो तीसरी दुनिया के देशों में यदि एकदम स्पष्ट है, तो तमाम जनवादी विभ्रमों, भ्रामक प्रतीतियों और बहुतेरी बुर्जुआ जनवादी संस्थाओं की मौजूदगी के बावजूद विकसित पूंजीवादी देशों में भी व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर इसकी शिनाख्त की जा सकती है। निस्सन्देह, इसका सम्बन्ध विश्व पूंजीवाद के ढांचागत संकट से है। साथ ही, विश्व-स्तर पर परजीवी, अनुत्पादक वित्तीय पूंजी का वर्चस्व और विशेषकर सट्टा पूंजी का प्रसार आज जिस रूप में सामने आया है, वह सर्वसत्तावादी, निरंकुश, फासिस्ट प्रवृत्तियों के फलने-फूलने के लिए अनुकूल उपजाऊ जमीन का काम कर रहा है।

विश्व-पूंजीवाद के मौजूदा ढांचागत संकट के विगत लगभग चौथाई दशक से जारी लम्बे दौर को पूंजीवादी जनवाद के क्षरण-विघटन की प्रक्रिया के साथ जोड़कर देखने पर, यह स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवाद-विरोधी नई, फैसलाकुन क्रान्तियों की वस्तुगत जमीन नई सदी में तेजी से तैयार हो रही है। मानवता के सामने सिर्फ दो ही भविष्य हैं—या तो समाजवाद या फिर बर्बरता—रोजा लक्जेमबुर्ग की यह उक्ति आज नये निहितार्थों के साथ उद्घाटित हो रही है और नये सन्दर्भों से सम्पुष्ट हो रही है।

बहरहाल, भारतीय सन्दर्भों की ओर वापस लौटें। भारतीय संसदीय जनवाद आज पराभव की जिस प्रक्रिया से गुजर रहा है, उसे आम नागरिक भी लगभग अनुत्क्रमणीय मानते हैं। आजादी के पच्चीस-तीस वर्षों बाद तक, लगभग आपातकाल के जमाने तक, बुर्जुआ राष्ट्रवाद और जनवाद की ऐतिहासिक कथा को एक आम भारतीय नागरिक खण्डित नायकत्व और पराभूत गौरव की त्रासद गाथा के रूप में देखता था। पर आज उसे यह घृणित पतनशीलता की काली किताब से अधिक कुछ नहीं लगता। तब जयप्रकाश नारायण और उनकी ''सम्पूर्ण क्रान्ति'' के बैनर तले किसिम-किसिम के गैर कांग्रेसी दलों-धड़ों की एकजुटता, चाहे थोड़ी देर के लिए ही सही, गांधीवादी यूटोपिया के अमल में आने या पचास के दशक

के नेहरू काल की गतिशीलता की वापसी की भ्रामक आशाएं जगा सकती थी। आज यह कोई सोच भी नहीं सकता। मौजूदा ढांचे से आम जनता में जो नाउम्मीदी पैदा हुई है, उसी में भविष्य के लिए नई उम्मीदें छिपी हुई हैं।

आपातकाल लागू करने के प्रश्न पर 1975 में शासक वर्गों के बीच, उनके राजनीतिक दलों के बीच या उनके सिद्धान्तकारों-सलाहकारों के बीच—किसी भी धरातल पर, आम सहमति नहीं थी। 1947 से ही भारतीय पूंजीपति वर्ग की जो पार्टी केन्द्र में सत्तारूढ़ थी, उसके सामने चौतरफा संकट इस विस्फोटक रूप में पहली बार सामने आया था। यह करीब एक दशक पुराना आर्थिक संकट था जो ''हरित क्रान्ति'' नामधारी कृषि के पूंजीवादी विकास के उपक्रमों, बैंकों के राष्ट्रीकरण के ''समाजवादी'' फैसले द्वारा राजकीय इजारेदार पूंजीवाद को मजबूत बनाने और ''गरीबी हटाओ'' जैसे लोकरंजक नारे के बावजूद, एक राजनीतिक संकट में रूपान्तरित हो गया। एक स्पष्ट बहुमत वाली सरकार के विरुद्ध व्यापक जनअसंतोष का यह अपने ढंग का पहला देशव्यापी विस्फोट था जिसने तत्कालीन सरकार को हिला दिया। श्रीमती गांधी और सत्तारूढ़ कांग्रेस का बड़ा हिस्सा इसे आम तौर पर संसदीय जनतंत्र के लिए, और खास तौर पर कांग्रेस के शासन एवं श्रीमती गांधी के नेतृत्व के लिए एक खतरे के रूप में देख रहा था जबकि जयप्रकाश नारायण और अन्य घुटे हुए बुर्जुआ राजनीतिज्ञ इसे पूरी व्यवस्था के लिए एक चेतावनी एवं चुनौती के रूप में देख रहे थे और इसके समाधान के तौर पर भारतीय पूंजीवादी जनवाद के पुन:संस्कार की योजनाएं प्रस्तुत कर रहे थे। ऐसा जोर-शोर से करते हुए वे व्यापक जनान्दोलन की पहलकदमी और नेतृत्व अपने हाथों में केन्द्रित कर रहे थे और क्रान्तिकारी सम्भावनाओं को कुशलतापूर्वक विघटित करने का काम कर रहे थे। इसी तनाव की परिणति आपातकाल के रूप में सामने आई जिसने भारतीय राज्यसत्ता, भारतीय संविधान और भारतीय पूंजीवादी जनवाद के चरित्र और सीमाओं को एकबारगी उजागर कर दिया।

क्रान्तिकारी शक्तियों को जरूरी शिक्षा और सोचने की नई दिशा देने के साथ ही, आपातकाल ने शासकवर्ग को भी शासन चलाने की जरूरी शिक्षाओं से लैस किया। आपातकाल बुनियादी तौर पर व्यवस्था के आर्थिक-राजनीतिक संकट की उपज था, पर अनुभव ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को सिखाया कि पूंजीवादी जनवाद का स्थगन ही उस संकट से निपटने का एकमात्र रास्ता नहीं था। पूंजीवादी संसदीय राजनीति के खेल में कभी-कभी ऐसे विचलन यूं भी आते रहते हैं जब सबकुछ वैसे नहीं चलता जैसे शासक वर्ग चाहते हैं। ऐसा विशेषकर संकटों के दौर में होता है जब विभिन्न अन्तरविरोधी शक्तियां विभिन्न धरातलों पर परस्पर संघात करने लगती हैं, शासक वर्गों के आपसी अन्तरविरोध और बुर्जुआ नीति-निर्माताओं के मतवैभिन्य उग्र हो जाते हैं तथा कुछ समय के लिए सत्तारूढ़ पार्टी, उसका कोई धड़ा या व्यक्ति वर्ग से स्वतंत्र-स्वायत्त सा आचरण करता प्रतीत होने लगते हैं (जबकि वस्तुत: ऐसा होता नहीं, शासक वर्ग के तीखे अन्दरूनी मतभेदों के चलते सत्तारूढ़ दल की भूमिका कुछ समय के लिए अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, पर उस समय भी उसके फैसलों के पीछे शासक वर्ग के एक हिस्से की ताकत काम कर रही होती है)।

आपातकाल के इतिहास को आज मूलत: इसी रूप में देखा जा सकता है, हालांकि कुछ अन्य विशिष्ट और गौण कारकों की भूमिका से इन्कार कतई नहीं किया जा सकता।

कल यदि भाजपा शासन में न भी रहे, तो भी राज्यतंत्र के व्यवस्थित फासिस्टी-करण की प्रक्रिया रुकने वाली नहीं है। शासन चाहे बुर्जुआ वर्ग की किसी भी पार्टी या गठबंधन के हाथों में हो, उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल जारी रहेगा और इसके लिए सत्तातंत्र का ज्यादा से ज्यादा निरंकुश सर्वसत्तावादी होते जाना भी अनिवार्य होगा।

पिछले दस वर्षों से भी कुछ अधिक समय के दौरान जो देशव्यापी फासीवादी उभार हिन्दूवादी कट्टरपंथ के रूप में सामने आया है, उसकी चुनौतियां आपातकाल से अधिक खतरनाक हैं। यह शासक वर्ग या उसकी सत्तारूढ़ पार्टी के सामने सहसा आ खड़े हुए किसी राजनीतिक संकट या आर्थिक संकट के किसी सुनिश्चित चक्र के भंवर से निपटने के लिए अपनाया गया फौरी समाधान नहीं है। आपातकाल में इन्दिरा गांधी के सामने फिर भी यह सवाल था (और इसके लिए शासक वर्ग का दबाव भी था) कि आपातकाल को ज्यादा से ज्यादा ''विधिसम्मत'' और ''अपरिहार्य'' कैसे सिद्ध किया जाये तथा स्थिति नियंत्रण में आते ही किस प्रकार स्थगित संसदीय चुनाव सम्पन्न कराकर पूंजीवादी जनवाद को फिर से बहाल किया जाये। सबसे बड़ी बात यह थी कि पूंजीपति वर्ग का बड़ा हिस्सा और पूंजीवादी राजनीतिज्ञों का बड़ा हिस्सा ऐसा चाहता था, क्योंकि उसे विश्वास था, और इस विश्वास के पर्याप्त कारण थे, कि भारत में बुर्जुआ अधिनायकत्व अभी (सीमित) बुर्जुआ जनवाद के कार्यकारी-विधायी ढांचे के माध्यम से लागू किया जा सकता था।

आपातकाल लागू करने के लिए भारतीय संविधान में कुख्यात 42वां संशोधन करना पड़ा था, जिसका मतलब वस्तुत: संविधान को ही उठाकर ताक पर रख देना था। आज सत्ता का फासिस्टीकरण एकदम व्यवस्थित ''संविधान सम्मत'' ढंग से हो रहा है। और फासिस्टीकरण सिर्फ सत्ता का ही नहीं, पूरे

सामाजिक ताने-बाने का हो रहा है। सवाल सिर्फ तरह-तरह के नये-पुराने काले कानूनों, जनान्दोलनों के बर्बर दमन, छापों, फर्जी मुठभेड़ों और हिरासत में 'टार्चर' आदि के जरिये कायम पुलिस-राज जैसी स्थिति, हड़ताल पर प्रतिबंध, जम्मू-कश्मीर और पूर्वोत्तर भारत की उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की जनता के लिए बर्बर सैनिक शासन जैसी दमनकारी स्थिति और प्रतिवर्ष सैकड़ों की तादाद में कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की हत्या तथा हजारों की गिरफ्तारी का ही नहीं है। शिक्षा, संस्कृति, न्याय-व्यवस्था—इन सबका व्यवस्थित ढंग से फासिस्टीकरण किया जा रहा है। चाहे नया श्रम कानून हो या नई शिक्षा नीति, चाहे कृषि नीति हो या आयात-निर्यात नीति—हर मायने में कल्याणकारी राज्य के बुर्जुआ जनवादी ढकोसले को तिलांजलि दी जा चुकी है और सब कुछ बाजार की शक्तियों के निर्द्वन्द्व-निर्बाध आखेट के लिए मुक्त किया जा रहा है, काफी हद तक किया जा चुका है। बाजार-कट्टरपंथ (मार्केट-फण्डामेण्टलिज्म) का यह पुनरुत्थान एक भूमण्डलीय परिघटना है, जो भूमण्डलीय स्तर पर पूंजीवादी जनवाद के क्षरण-स्खलन को सीमान्तों के निकट पहुंचा रहा है और राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों में धार्मिक कट्टरपंथी, पुनरुत्थानवादी और विविधरूपा फासिस्ट धाराओं-प्रवृत्तियों-रुझानों की नर्सरी का काम कर रहा है। आज फासीवादी उभार का प्रश्न जिस रूप में हमारे सामने है, वह वस्तुतः, विश्व स्तर पर, और भारत में, पूंजीवादी जनवाद के अनिवार्य ऐतिहासिक पराभव का प्रश्न है और उसकी नियति एवं भवितव्य का प्रश्न है। यह प्रश्न आर्थिक नवउपनिवेशवाद के वर्तमान विश्व-ऐतिहासिक दौर की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं की सुसंगत समझ के साथ जुड़ा हुआ है, जब एक बार फिर पूंजी और श्रम एकदम आमने-सामने खड़े हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में हमारी इस स्थापना को समझा जा सकता है कि प्रश्न भाजपा-गठबंधन के सत्तारूढ़ होने और संघ परिवारी फासिस्ट गुण्डों के सड़कों पर कायम आतंक राज का तो है ही, पर इससे भी अधिक दूरगामी महत्व का प्रश्न यह है कि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल और उसकी विस्फोटक सामाजिक परिणतियों से निपटने के लिए एक फासिस्ट किस्म की राज्यसत्ता जरूरी है और भारतीय राजनीति की क्लासिकी ढंग की फासिस्ट पार्टी के नेतृत्व में यह रूपान्तरण कुशलता और तीव्रता के साथ क्रियान्वित हो रहा है। भाजपा सत्ता में न भी रहे, तो भी राज्यसत्ता के बढ़ते निरंकुशीकरण और सर्वसत्तावादीकरण की प्रक्रिया जारी रहेगी। जिस तरह वर्तमान आर्थिक नीतियां मौजूदा पूंजीवादी दायरे के भीतर अनुत्क्रमणीय (इर्रिवर्सिबल) हैं, उसीतरह राज्यसत्ता के फासिस्टीकरण की प्रक्रिया भी अनुत्क्रमणीय है। और प्रश्न सिर्फ राज्यसत्ता के क्रमिक फासिस्टीकरण का ही नहीं है, हमारे समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने से रहे-सहे जनवादी मूल्यों का भी तेजी से क्षरण हुआ है और तेजी से फले-फूले, बाजार-पूजक, माल-प्रेतपूजा (कमोडिटी फेटिशिज़्म) के अन्धानुगामी, चरम परजीवी मध्यवर्ग के विभिन्न संस्तरों में फासीवाद ने अपना सामाजिक आधार तेजी से और बड़े पैमाने पर फैलाया और मजबूत बनाया है। आजादी के बाद के दशकों में जनसंघ जैसी फासिस्ट पार्टी का आधार शहरी व्यापारियों में और स्वतंत्र पार्टी जैसी अनुदारवादी पश्चिमपरस्त पार्टी का आधार परम्परागत अभिजातों-भूस्वामियों और पश्चिमपरस्त कूपमण्डूक बुद्धिजीवियों के बीच था। आज भाजपा का सामाजिक आधार भ्रष्ट नौकरशाहों-टेक्नोक्रैटों, स्वतंत्र पेशा बुद्धिजीवियों के अतिरिक्त औसत दर्जे के आम नौकरीपेशा लोगों में विस्तारित हुआ है और गांवों के कुलकों और नये अमीरों में भी उसने अपनी पैठ बढ़ाई है। सफेदपोश मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा संशोधनवादियों का साथ छोड़कर फासिस्टों की ट्रेड यूनियनों के झण्डे के नीचे जा खड़ा हुआ है और आम मध्यवर्गीय घरों के पीले बीमार चेहरों वाले, बेरोजगारी और सांस्कृतिक रुग्णता की मार झेल रहे नौजवानों का एक बड़ा हिस्सा, जो क्रान्तिकारी प्रचार द्वारा मजदूरों का बगलगीर बनाया जा सकता था, आज फासिस्टों के गिरोहों का सिपाही बन रहा है।

शिक्षा, संस्कृति, न्याय-व्यवस्था—इन सबका व्यवस्थित ढंग से फासिस्टीकरण किया जा रहा है। चाहे नया श्रम कानून हो या नई शिक्षा नीति, चाहे कृषि नीति हो या आयात-निर्यात नीति—हर मायने में कल्याणकारी राज्य के बुर्जुआ जनवादी ढकोसले को तिलांजलि दी जा चुकी है और सब कुछ बाजार की शक्तियों के निर्द्वन्द्व-निर्बाध आखेट के लिए मुक्त किया जा रहा है, काफी हद तक किया जा चुका है।

आने वाले दिनों में भाजपा की जगह कोई भी दूसरी पार्टी सत्तारूढ़ होगी तो वर्तमान आर्थिक नीतियों को आगे बढ़ाते हुए वह जन असंतोष के विस्फोटों के विरुद्ध ज्यादा से ज्यादा सर्वसत्तावादी दमनतंत्र को लागू करने के लिए बाध्य होगी। दूसरी बात यह कि, भारतीय राजनीतिक पटल पर, भाजपा जैसी धार्मिक कट्टरपंथ फासिस्ट पार्टी की प्रभावी मौजूदगी आगे भी लगातार बनी रहेगी। इस धारा की इतिहास में और सामाजिक-आर्थिक संरचना में जड़ें हैं और साम्राज्यवाद और देशी पूंजीवाद के लिए आगे भी इसकी उपयोगिता लगातार बनी रहेगी।

●

जब हम कहते हैं कि भारत में फासीवाद के मौजूदा उभार का सम्बन्ध मूलतः भारतीय पूंजीवाद के असाध्य ढांचागत आर्थिक संकट से है और भारतीय पूंजीवादी जनवाद के चरित्र और विकास-प्रक्रिया से है, तो इस तर्क का स्वतःविस्तार इस कार्यकारी परिणति में देखा जा सकता है कि मजदूर आन्दोलन

के क्रान्तिकारीकरण के बिना और आज की परिस्थितियों की सही समझ के आधार पर एक सशक्त मजदूर-किसान संश्रय के निर्माण के बिना (यानी शहरी सर्वहारा और ग्रामीण सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के साथ पूंजी की मार से उजड़ते मध्यम किसानों के मध्यम संस्तरों का संयुक्त मोर्चा) फासिस्ट चुनौती का कारगर प्रतिकार कदापि नहीं किया जा सकता।

जहां तक भारतीय मध्य वर्ग, विशेषकर शहरी पढ़े-लिखे, नौकरीपेशा और स्वतंत्र पेशा तबकों का प्रश्न है, फासीवादी उभार के विरुद्ध इसकी सम्भावित भूमिका के आज वस्तुगत पुनर्मूल्यांकन की जरूरत है।

याद करें कि काफी पहले, तीस के दशक में जवाहरलाल नेहरू ने भारत के राष्ट्रवादी मध्यवर्ग, विशेषकर उच्च-मध्यवर्ग में फासीवाद के प्रसार की उर्वर जमीन की मौजूदगी को रेखांकित किया था। भारतीय मध्य वर्ग का राष्ट्रवाद अपने प्रारम्भ से ही पुनर्जागरण-प्रबोधन-प्रसूत जुझारू भौतिकवादी तर्कणा के बजाय औपनिवेशिक संरचना-प्रसूत पुनरुत्थानवाद से अभिप्रेरित था। आगे चलकर, इसका एक रैडिकल हिस्सा मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी आन्दोलन और सर्वहारा आन्दोलन से जुड़ा, पर एक बड़ा हिस्सा ''नेहरूवादी समाजवादी'' नारों के व्यामोह में जकड़ा रहा या पुनरुत्थानवादी दुराग्रहों के साथ बुर्जुआ राष्ट्रवाद की अनुदारवादी धारा के साथ जुड़ा रहा। स्वातंत्र्योत्तर काल में ''नेहरूवादी समाजवादी'' रास्ते ने राजकीय पूंजीवाद के जिस विराट तंत्र का निर्माण किया उसमें हद दर्जे की भ्रष्ट नौकरशाही और सत्ता से नाभिनालबद्ध बुद्धिजीवियों का एक व्यापक संस्तर अस्तित्व में आया, जो प्रकृति से श्रम-विरोधी, जन-विरोधी और निरंकुश स्वेच्छाचारी था। इस मध्यवर्ग के ऊपरी हिस्से को आपातकाल की निरंकुश तानाशाही अपने हितों के लिए अत्यधिक अनुकूल प्रतीत हुई थी और इसके निचले हिस्से के बहुलांश ने भी या तो बिना किसी आपत्ति के, या क्षीण असंतोष के साथ उसे स्वीकार ही किया था। उदारीकरण के दौर में मध्यवर्ग के खाते-पीते हिस्से की भी जनवादी प्रक्रिया और संस्थाओं के प्रति रही-सही प्रतिबद्धता का तेजी से ह्रास हुआ है और निम्न-मध्य वर्ग के निराश युवाओं का एक बड़ा हिस्सा पूंजीवादी संकट के फासीवादी समाधान की ओर तेजी से आकृष्ट हुआ है। इस सन्दर्भ में **पाल आर. ब्रास** (द पॉलिटिक्स ऑफ इण्डिया सिंस इंडिपेंडेंस') का यह निष्कर्ष गौरतलब है कि मध्यवर्गों को राजनीतिक लोकतंत्र का मुख्य समर्थक मानने की समझ आज बदलने की जरूरत है क्योंकि गरीब देशों में इन वर्गों की बढ़ती हुई उपभोग-सम्बन्धी मांगों को बहुसंख्यक जनता की जरूरतों की उपेक्षा करके या दमन के जरिए ही पूरा किया जा सकता है।

औसत दर्जे के मध्य वर्ग का एक बड़ा हिस्सा, सिर्फ बचत करके ही नहीं, हर तरह का भ्रष्टाचरण करके सुख-सुविधा और ऐशो-आराम के उन सभी साजो-सामानों को लपक लेना चाहता है, जिनसे बाजार उन्हें ललचा रहा है। आम मेहनतकशों की असहनीय होती जा रही जीवन-स्थितियों, उनसे अतिलाभ निचोड़ने की प्रक्रिया और उनके बढ़ते दमन से वह न सिर्फ असम्पृक्त हुआ है, बल्कि वह खुद जनान्दोलनों के मुखर विरोधी और उनके दमन के पैरोकार की भूमिका में आता चला गया है। बेशक इस मध्य वर्ग का जो बड़ा हिस्सा तबाह होकर सर्वहारा की कतारों में शामिल होता जा रहा है, वह क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से लैस है और जो हिस्सा जैसे-तैसे जी रहा है और बेहतर जिन्दगी हासिल कर पाने में ज्यादा से ज्यादा पिछड़ते हुए क्रमशः मोहभंग का शिकार होता जा रहा है, उसे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन की धारा प्रबलतर होते हुए आगे अपने प्रवाह में समेट लेगी। पर यहां हम इस तथ्य को रेखांकित करना चाहते हैं कि मध्य वर्ग का एक बड़ा हिस्सा पूंजीवादी विकास के पचास वर्षों के दौरान फलते-फूलते हुए, उदारीकरण के दौर तक आते-आते पूरी तरह प्रतिक्रियावादी बन चुका है और फासीवाद के सामाजिक आधार का काम कर रहा है। इस वर्ग का एक बड़ा हिस्सा आज परजीवी, अनुत्पादक सट्टा-पूंजी के खेल में लिप्त है। यह आंख खोल देने वाला तथ्य है कि वर्ष 1999-2000 में आबादी के मात्र 0.5 प्रतिशत हिस्से ने सट्टा बाजार से 4,00,000 करोड़ रुपये की कमाई की जो उस पूरे कृषि क्षेत्र की आय के बराबर है, जिस पर 67 प्रतिशत जनसंख्या निर्भर है।

बाजार-कट्टरपंथ का यह पुनरुत्थान एक भूमण्डलीय परिघटना है, जो भूमण्डलीय स्तर पर पूंजीवादी जनवाद के क्षरण-स्खलन को सीमान्तों के निकट पहुंचा रहा है और राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक दायरों में धार्मिक कट्टरपंथी, पुनरुत्थानवादी और विविधरूपा फासिस्ट धाराओं-प्रवृत्तियों-रुझानों की नर्सरी का काम कर रहा है।

विडम्बना यह है कि शिक्षित मध्य वर्ग का जो हिस्सा साम्प्रदायिकता और फासीवाद का विरोध करता है, वह महानगरों के अकादमिक परिसरों, अखबारी दुनिया और सांस्कृतिक जगत तक सीमित है और वहां भी वह अल्पमत में ही है। मध्य वर्ग के इस हिस्से की धर्मनिरपेक्षता उसकी बुर्जुआ जीवन-शैली और अभिजात बौद्धिक विमर्श की चौहद्दी में कैद है। इसका फासीवाद-विरोध कुछ रस्मी प्रदर्शनों-कवायदों से आगे कभी नहीं जाता। अपने आसपास मौजूद उजरती गुलामी के महासागर में यह वर्ग भी अपनी सुख-सुविधाओं के सुरक्षित द्वीप पर रहता हुआ कभी ''नेहरूवादी धर्मनिरपेक्षता'' के दिनों की वापसी के

भारतीय मध्यवर्ग, विशेषकर शहरी पढ़े-लिखे, नौकरीपेशा और स्वतंत्र पेशा तबकों की फासीवादी उभार के विरुद्ध सम्भावित भूमिका के आज वस्तुगत पुनर्मूल्यांकन की जरूरत है। इस मध्यवर्ग के ऊपरी हिस्से को आपातकाल की निरंकुश तानाशाही अपने हितों के लिए अत्यधिक अनुकूल प्रतीत हुई थी और इसके निचले हिस्से के बहुलांश ने भी या तो बिना किसी आपत्ति के, या क्षीण असंतोष के साथ उसे स्वीकार ही किया था। उदारीकरण के दौर में मध्यवर्ग के खाते-पीते हिस्से की भी जनवादी प्रक्रिया और संस्थाओं के प्रति रही-सही प्रतिबद्धता का तेजी से ह्रास हुआ है और निम्न-मध्य वर्ग के निराश युवाओं का एक बड़ा हिस्सा पूंजीवादी संकट के फासीवादी समाधान की ओर तेजी से आकृष्ट हुआ है।

लिए आहें भरता है तो कभी पश्चिमी देशों के ''बुर्जुआ जनवादी विभ्रमों'' को देख-देखकर हुलसता-ललकता है तो कभी ''बाजार समाजवाद'' या सामाजिक जनवाद के नये-नये नुस्खे-फार्मूले परसने का काम करता रहता है। मध्य वर्ग के इस हिस्से की कायर, सुविधाभोगी, नपुंसक धर्मनिरपेक्षता के एजेण्डे से आम मेहनतकश जनता का कोई जुड़ाव नहीं है और इस स्थिति का भरपूर लाभ अन्ततोगत्वा फासिस्ट ताकतों को ही मिलता है।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि संसदीय वामपंथ के लिल्ली घोड़े पर सवार गत्ते की तलवारें भांजते ''रणबांकुरे'' साम्प्रदायिक फासीवाद-विरोधी अपनी तथाकथित प्रचारात्मक-आन्दोलनात्मक कार्रवाइयों को महानगरीय मध्यवर्ग के इसी छोटे-से हिस्से तक सीमित रखते हैं। व्यापक शहरी मेहनतकश आबादी और गांव के गरीबों को तो छोड़ ही दें, महानगरों से लेकर छोटे शहरों-कस्बों की निम्न मध्यवर्गीय युवाओं तक के सामने भी संसदीय वाममार्गी दल फासीवाद-विरोधी व्यापक जनसंघर्ष की तैयारी का कार्यक्रम तो दूर, आम दिशा तक प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। इनकी रणनीति संसद में ''तीसरी ताकतों'' के भाजपा-विरोधी गंठजोड़ की मामा-गोटी खेलने से लेकर कांग्रेस को समर्थन देने तक ही मुख्यत: सीमित है। इन अर्थवादियों और ट्रेड यूनियनवादियों ने रस्मी विरोध करते हुए आम मजदूर आबादी को उदारीकरण की नीतियों को निर्विकल्प मानने की पराजयवादी मानसिकता से लैस किया है और साथ ही बुर्जुआ सत्ता और फासीवादियों के सामने मेहनतकश आबादी को निरस्त्र करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाकर अपने को प्रारम्भिक सामाजिक जनवादियों का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध किया है।

यह स्थिति भी एक स्वत:प्रमाण है कि मजदूर आन्दोलन के क्रान्तिकारीकरण के बिना फासीवादी उभार की चुनौती का मुकाबला कदापि नहीं किया जा सकता। मजदूर आन्दोलन के क्रान्तिकारीकरण से हमारे दो मन्तव्य हैं। **पहला**, ट्रेड यूनियन आन्दोलन को अर्थवाद, सुधारवाद, ट्रेड यूनियनवाद की जकड़बन्दी से बाहर लाकर उसे क्रान्तिकारी जनदिशा देना, आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ राजनीतिक संघर्षों और क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार की कार्रवाई लगातार चलाना तथा मजदूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलाना। तभी मजदूर वर्ग फासीवाद के विरुद्ध लौह-दीवार की तरह खड़ा होगा, गरीब एवं मध्यम किसान आबादी को साथ लेकर अभेद्य व्यूह रचने में सफल हो सकेगा और आम मध्य वर्ग के व्यापक हिस्से को भी अपनी ओर खींच सकेगा। **दूसरा**, भारत में सर्वहारा वर्ग की एकीकृत पार्टी के निर्माण और गठन की प्रक्रिया को नये सिरे से आगे बढ़ाना होगा। लकीर की फकीरी करने के बजाय हमें तीन दशक पुराने गतिरोध के बुनियादी कारणों को समझना होगा और परिस्थितियों की सही वैज्ञानिक समझ के आधार पर कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की एकता की प्रक्रिया नये सिरे से शुरू करनी होगी।

कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठन और ग्रुप क्रान्तिकारी जनदिशा की सही समझ के अभाव के कारण ट्रेड यूनियन आन्दोलन में अपनी प्रभावी पैठ बनाने और संशोधनवादियों के विरुद्ध प्रभावी मोर्चाबन्दी करने में असफल रहे हैं। प्राय: वे अलग से छोटी-मोटी यूनियनें खड़ी करके अर्थवाद के बरक्स जुझारू अर्थवाद की ही बानगी पेश करते रहे हैं। उन्हें सभी स्थापित ट्रेड यूनियनों में क्रान्तिकारी सेल-न्यूक्लियस बनाकर व्यापक मजदूर आबादी को अपने पक्ष में जीतने की लम्बी प्रक्रिया शुरू करनी होगी और ट्रेड यूनियन नौकरशाही के विरुद्ध लेनिनवादी ढंग से लम्बी, समझौताहीन लड़ाई लड़नी होगी। यह प्रक्रिया क्रान्तिकारी संगठनों के अग्रवर्ती बोल्शेविकीकरण में सहायक सिद्ध होगी और साथ ही पार्टी-गठन की जारी राजनीतिक बहस को भी नया संवेग प्रदान करेगी।

मजदूर आन्दोलन के क्रान्तिकरण का प्रश्न क्रान्तिकारी जनदिशा के अमल और क्रान्तिकारी वाम की शक्तियों की अखिल भारतीय एकजुटता से जुड़ा है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही फासीवाद के विरुद्ध शहरी मजदूर आबादी को और उसके साथ गांव के गरीबों को और फिर गांव-शहर के आम, परेशानहाल मध्यम वर्गों को लामबन्द किया जा सकता है। यह प्रक्रिया लम्बी और चुनौतीपूर्ण है। पर यही वास्तविक और व्यावहारिक मार्ग है। यही सच है। और जो सच है, उसे स्वीकारना ही होगा।

अपरिहार्य बाध्यताओं के चलते दायित्वबोध का अप्रैल-जून 2000 अंक हमें स्थगित करना पड़ा। और यह अंक भी कुछ देर से आपको मिल रहा है। इससे पाठकों को हुई परेशानी के लिए हमें खेद है। हमारी कोशिश होगी कि आगे ऐसा न हो। —सम्पादक

विश्व व्यापार संगठन
आर्थिक नवउपनिवेशवादी लूट का तंत्र

● आलोक रंजन

जिन संकटों ने विश्व पूंजीवाद के छोटे-बड़े चौधरियों को भूमण्डलीकरण की नई आर्थिक रणनीति अपनाने के लिए बाध्य किया, वे संकट के इस नये दौर में न केवल और गंभीर हो गये हैं, बल्कि असाध्य रोग बन गये हैं। हर निदान दीर्घकालिक विश्वव्यापी मन्दी में र्सिफ कुछ क्षणिक सुधारों के झटके साबित हो रहे हैं। साम्राज्यवादी अपने संकटों का ज्यादा से ज्यादा बोझ भारत जैसे देशों की गरीब जनता को निचोड़कर हल्का कर लेना चाहते हैं और साथ ही अपने देशों के मेहनतकश अवाम को भी आखिरी बूंद तक चूस लेना चाहते हैं। नतीजा सामने है। भारत में ही देखें। नई आर्थिक नीतियों पर अमल के 8-9 वर्षों ने सिद्ध कर दिया है कि भारत के इतिहास का एक नया, अंधकारमय, विनाशकारी दौर शुरू हो चुका है।

हमारे देश में 1991 से लागू नई आर्थिक नीतियां अब तक दो करोड़ से भी कुछ अधिक लोगों का रोजगार छीन चुकी हैं। पुराने उद्योग बंद होते जा रहे हैं। छंटनी-तालाबन्दी का दौर अविराम जारी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और देशी घरानों के नये उद्योग बेकार हुई श्रमशक्ति के बहुत छोटे हिस्से को ही खपा रहे हैं। नये रोजगार बहुत कम पैदा हो रहे हैं। प्रत्यक्ष और परोक्ष बेरोजगारों की संख्या आज बीस करोड़ के आसपास पहुंच चुकी है। गैट समझौते ने देश के वैज्ञानिक-प्राविधिक विकास और खेती के भविष्य को सीलबंद कर दिया है। हथकरघा और तमाम छोटे उद्योगों की तबाही ने लाखों परिवारों को बर्बादी के गर्त में धकेल दिया है। गांवों में पूंजी के तेज विस्तार ने छोटे और मंझोले दर्जे के किसानों को, जिनकी खेती मुनाफे की नहीं है, उन्हें उनकी जगह-जमीन से उजाड़कर उजरती गुलामों की कतारों में ला खड़ा करने की रफ्तार को छह गुना-आठ गुना तेज कर दिया है। आजादी के बाद के चार दशकों में धनी-गरीब के बीच की खाई जितनी चौड़ी हुई थी, उससे दूनी वह र्सिफ पिछले आठ वर्षों में हो गई है।

देशी पूंजीपतियों और विदेशी कम्पनियों ने वास्तविक अर्थव्यवस्था (यानी कृषि या उद्योग) के बजाय पूंजी का बड़ा हिस्सा वित्तीय अर्थव्यवस्था (यानी बैंक, बीमा, मुद्रा बाजार, शेयर बाजार, वित्तीय संस्थाएं आदि) में लगाया है। नये उद्योग लगाने की जगह विदेशी कम्पनियों ने ज्यादातर भारतीय कम्पनियों में अपनी भागीदारी बढ़ाकर उन्हें हड़पने का ही काम किया है। शेयर बाजारों की सट्टेबाजी ने पूरी तरह परोपजीवी धनी तबकों की एक पूरी नई कतार पैदा की है जिनका वास्तविक उत्पादन से कोई रिश्ता नहीं है। और वास्तविक उत्पादन में भी जो पूंजी निवेश हुआ है उसकी प्रकृति क्या है? भारत में, जो दुनिया के सबसे निर्धन देशों में एक है, देखते-देखते विगत पांच वर्षों के भीतर सिएलो, होण्डा, ओपल एस्ट्रा से लेकर मर्सिडीज बेंज सहित तमाम नई-नई ब्राण्डों के साथ अधिकांश विश्व प्रसिद्ध कार निर्माता कम्पनियों ने उत्पादन शुरू कर दिया है। कई हजार रुपये तक की कीमत वाले विदेशी ब्राण्ड के जूते बाजार में आ गये हैं। जूता बाजार में दुनिया की अधिकांश विश्व प्रसिद्ध कम्पनियां प्रवेश पा चुकी हैं। विश्व प्रसिद्ध सौन्दर्य प्रसाधनों, फास्ट फूड्स और शीत पेयों से बाजार पट गये हैं। इन सभी चीजों के खरीदार इस देश में मौजूद हैं और दुनिया भर के सौदागरों की उन पर नजर है, पर वे लोग हमारे देश की कुल आबादी के मात्र बीस प्रतिशत हैं। शेष अस्सी फीसदी लोगों की स्थिति क्या है? हाथी सूई में प्रवेश पा सकता है, पर हमारे देश के अस्सी फीसदी आम लोग इन मंहगी उपभोक्ता सामग्रियों की दुकानों में नहीं जा सकते। प्रति व्यक्ति खाद्यान्न की उपलब्धता 1991 में 510 ग्राम प्रतिदिन थी जो 1995 में घटकर 474 ग्राम प्रतिदिन रह गई। सम्पन्न तबकों के उपभोग में कमी आने की जगह इस दौरान बढ़ोत्तरी ही हुई है। ऐसी स्थिति में गरीबो की एक भारी आबादी भूख और कुपोषण का शिकार हो रही है। भारत की खस्ताहाल सड़कों पर विदेशी कारों-मोटरसाइकिलों की भीड़ है, दूसरी ओर सार्वजनिक परिवहन सेवाओं की स्थिति असहनीय रूप से बदतर है। किराये हर वर्ष बढ़ते जा रहे हैं। मंहगे नर्सिंग होमों व निजी अस्पतालों की बढ़ती सुविधाओं के समान्तर सरकारी अस्पतालों की स्थिति अत्यन्त बदतर होती जा रही है। आम जीवनोपयागी दवाओं की कीमतों में भी गत 8 वर्षों के दौरान चौगुने से भी अधिक की बढ़ोत्तरी हो चुकी है। शिक्षा के क्षेत्र में धनी-गरीब के बीच की खाई इतनी चौड़ी पहले कभी नहीं थी। मंहगी व्यावसायिक शिक्षा, विश्वविद्यालयों में विभिन्न पाठ्यक्रमों का निजीकरण, मध्यम वर्ग के एक पूरे परिवार की आय से भी अधिक मासिक फीस वाले बच्चों के अभिजात विद्यालय—यही शिक्षा क्षेत्र में गत 8 वर्षों की प्रगति का ब्यौरा है।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि सभी पूंजीवादी सिद्धान्तकारों, अर्थशास्त्रियों और पूंजीवादी चुनावी पार्टियों की इन नीतियों पर आम सहमति है। यह सभी मानते हैं कि विश्व इतिहास के विकास का एकमात्र रास्ता बाजार की मुक्तावस्था से—भूमण्डलीकरण से होकर जाता है। नई आर्थिक नीति के उग्र से उग्र पूंजीवादी आलोचक भी सिर्फ यह सुझाव देते हैं कि सामाजिक असंतोष के विस्फोट से बचने के लिए राज्य को अपनी ''कल्याणकारी'' भूमिका का पूर्ण या अचानक परित्याग नहीं करना चाहिए आदि-आदि। कुछ ऐसे भी है जो गांधीवाद की दुहाई देते हुए, साम्राज्यवादी दबाव और उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव से बचने के लिए हर तरह की आधुनिक प्रौद्योगिकी को ही मानवद्रोही सिद्ध कर 'प्रकृति की ओर वापसी' का नारा देते हैं, बड़े उद्योगों और मशीनीकरण का विरोध करते हैं और राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के बाजार अर्थतंत्रों को तोड़कर छोटे और घरेलू पैमाने की छोटी-छोटी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्थाओं

के निर्माण का दिवास्वप्न देखते हैं। उनका काल्पनिक, अव्यावहारिक पुनरुत्थानवाद कुल मिलाकर बाजार अर्थव्यवस्था को ही ''अपरिहार्य'', ''अपराजेय'' सिद्ध करता है। कुछ सुधारवादी और कथित वामपंथी, समाजवादी मुखौटे वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था के नेहरूकालीन दौर की वापसी के लिए चीख पुकार मचाते हैं और इस बात को नहीं समझ पाते कि आज का दौर नेहरू के दौर का ही विकास और तार्किक परिणति है।

और बात केवल हमारे देश की ही नहीं है। एशिया, अफ्रीका, लातिनी अमेरिका के जिन देशों ने भी उपनिवेशवाद के दौर की समाप्ति के बाद साम्राज्यवादी सहयोग से पूंजीवादी विकास का रास्ता चुना, वे सभी देश आज ज्वालामुखी के दहाने पर बैठे हुए है। इन सभी देशों की जनता के सामने भी यही सवाल है।

आंकड़े बताते हैं कि अर्थव्यवस्थाओं के बढ़ते भूमण्डलीकरण ने विश्व स्तर पर गरीबों को और अधिक गरीब तथा धनियों को और अधिक धनी बनाया है। पूंजीवादी विकास के साथ-साथ बेरोजगारी और मंहगाई लगातार बढ़ती गई है। पूंजीवाद का विश्व ऐतिहासिक काल अब समाप्ति के निकट खड़ा है, इसका इससे बड़ा प्रमाण भला क्या हो सकता है कि आज कुल पूंजी का दस प्रतिशत से भी कम निवेश जीवनोपयोगी बुनियादी चीजों के उत्पादन में हो रहा है। शेष सारी पूंजी सट्टेबाजी, वित्तीय तंत्र में निवेश जैसी अनुत्पादक कार्रवाइयों में, सेवाक्षेत्र में तथा दुनिया की 15 फीसदी समृद्ध आबादी द्वारा उपयोग की जाने वाली विलासिता की सामग्री और युद्ध सामग्री उत्पादन में लगी हुई है।

क्या इस सामाजिक व्यवस्था को जल्दी से जल्दी नष्ट नहीं कर दिया जाना चाहिए?

इस स्थिति की भयावहता तब और भी निरावृत्त हो जाती है जब हम स्वयं उन्हीं के इशारों पर नाचने वाले विश्व-बैंक का यह आकलन पढ़ते हैं कि छह अरब विश्व-जनसंख्या में से एक चौथाई यानी डेढ़ अरब आबादी आज भी गरीबी रेखा (31 डॉलर प्रति व्यक्ति प्रतिमाह मासिक आय) से नीचे जीने पर मजबूर है। लेकिन, दूसरी तरफ, उत्तर के विकसित देश, जो ''भूमण्डीकरण'' द्वारा दुनियाभर की अर्थव्यवस्थाओं के ''एकीकरण'' का सेहरा अपने सिर पर बांध रहे हैं, विश्व की कुल जनसंख्या की मात्र 1/5 जनसंख्या रखते हुए भी, विश्व के 3.2 अरब लोगों के उपभोग के बराबर यानी सकल विश्व-खाद्यसामग्री का लगभग 60 प्रतिशत, सम्पूर्ण विश्व-ऊर्जा का 70 प्रतिशत, सकल विश्व-धातुओं का 75 प्रतिशत और सकल विश्व काष्ठ का 60 प्रतिशत अकेले ही उपभोग कर जाते हैं।

''भूमण्लीकरण'' ने बेरोजगारी का भी भूमण्डलीकरण कर दिया है। लेकिन ऐसी बात नहीं कि यह समस्या केवल तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में ही बढ़ रही है, बल्कि ''भूमण्डलीकरण'' के महारथी बने सात बड़ों के भीतर भी बड़ी तेजी से बेरोजगारी बढ़ रही है। यदि भारत और पाकिस्तान जैसे तीसरी दुनिया के देशों में बेरोजगारी 20 प्रतिशत से ऊपर जा चुकी है, तो जी-7 समेत आर्थिक सहकार और विकास संगठन (ओईसीडी) के देशों में भी करीब 5 प्रतिशत श्रम-शक्ति बेरोजगार है।

लेकिन बेरोजगारी की चिन्ता का घड़ियाली आंसू बहाते हुए ''भूमण्डलीकरण'' के महारथी वास्तव में कर क्या रहे हैं? वे मजदूरों की छंटनी कर रहे हैं, मजदूरों के वेतन जाम कर रहे हैं, मजदूरियां घटा रहे हैं, चिकित्सा-पेंशन आदि सुविधाओं में कटौतियां कर रहे हैं, और सामाजिक-सुरक्षा को क्रमश: कम करते हुए अन्तत: समाप्त कर देने की ओर बढ़ रहे हैं। उनके चाकर अर्थशास्त्री ''रोजगारविहीन विकास'' और मुद्रास्फीति को काबू में रखने के लिए ''बेरोजगारी की प्राकृतिक दर'' बनाये रखने की वकालत करने में लगे हैं। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में तो वे ''संरचनात्मक समायोजन'' के नाम से ऐसा करवा ही रहे हैं, स्वयं अपने देशों के भीतर भी यही सब कर रहे हैं।

वर्तमान विश्व-पूंजीवादी तंत्र की आज यही सच्चाई है।

आज विश्व-पूंजीवाद का संकट इस मुकाम पर घनीभूत हो चुका है कि अब उसके आर्थिक तंत्र के भीतर रोजगार सृजन के विस्तार के सारे प्रेरक तत्व नि:शेष हो चुके हैं

यों तो आर्थिक संकट और शोषण दोनों ही पूंजीवादी आर्थिक तंत्र की प्रकृति में ही अन्तर्निहित हैं, फिर भी ''भूमण्डलीकरण'' आज इन दोनों को जिस रूप में प्रतिबिम्बित कर रहा है, वह पूंजीवाद के अब तक के सम्पूर्ण इतिहास में अभूतपूर्व है। इन पर तनिक विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

वित्तीय पूंजी के वर्चस्व का आलम आज यह है कि अब आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का केन्द्र सटा बाजार की ओर सरक गया है। अब पूंजीवादी समाज की वास्तविक सत्ता का केन्द्र, जो एक लम्बे समय तक कुछ सौ दैत्याकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मंत्रणा कक्ष में स्थित माना जाता था, अब वित्तीय बाजार में स्थित हो चुका है।

एक बात, प्रसंगवश यहां और स्पष्ट कर दें। कुछ लोग अभी भी यह भ्रम पाले हुए हैं कि ''भूमण्डलीकरण'' के तहत जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियां तीसरी दुनिया के विकासशील देशों में अपना जाल बिछा रही हैं उससे रोजगार के अवसर बढ़ेंगे। परन्तु यह एक कोरा भ्रम ही है। आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा मुहैया किया गया रोजगार विश्व की कुल श्रम शक्ति का महज 3 प्रतिशत ही है और उसमें भी ऐसे ही अस्थायी रोजगारों की बहुतायत है जिनमें मजदूरी की दरें विडम्बनापूर्ण रूप से अत्यन्त कम है और सेवा शर्ते एवं सेवा सुविधाएं अत्यन्त निराशाजनक हैं। उदाहरण के लिए, दुनिया के सबसे मंहगे स्पोर्ट्स शूज बनाने वाली अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी नाइकी, के जूते के कारखाने में जो इण्डोनेशियाई महिलाएं काम करती हैं उन्हें दैनिक मजदूरी के रूप में मात्र 58 सेंट ही दिये जाते हैं।

पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली की प्रमुख दिलचस्पी अब वास्तविक अर्थव्यवस्था में निवेश करने की नहीं, बल्कि सट्टा बाजार की अवास्तविक गैर उत्पादक कार्यवाहियों में निवेश करने की हो गयी है। विश्व व्यापार संगठन प्रधानत: इसी का नियामक है।

1998 में विश्व व्यापार संगठन के चौथे प्रोटोकोल के तहत दूरसंचार उद्योग पर से संरक्षणवादी उपाय खत्म किये जाने के छह महीने के अंदर दुनिया की दस प्रतिशत से ज्यादा कम्पनियां बिक गईं। इस समय बुनियादी दूरसंचार सेवाओं के व्यापार का 38 प्रतिशत से ज्यादा हिस्सा अमेरिकी कम्पनियों के कब्जे में है। इसी के दबाव में भारत सरकार दूरसंचार सेक्टर के पूर्ण निजीकरण की ओर तेजी से बढ़ी जा रही है।

एक ओर विकसित देश अपनी धौंसपट्टी के लिए पर्यावरण के मुद्दों को बहाना बनाते हैं, दूसरी ओर एकाधिकारी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां पर्यावरणीय संरक्षणात्मक उपायों को खत्म करने के लिए डब्ल्यू.टी.ओ. का इस्तेमाल करती हैं। उदाहरण के लिए अमेरिकन इलेक्ट्रानिक्स

एसोसियेशन (जिसके प्रमुख सदस्यों में माइक्रोसाफ्ट शामिल है) ने अमरीकी व्यापार प्रतिनिधि के कार्यालय से उस यूरोपीय प्रस्ताव का कड़ा विरोध करने के लिए कहा है जिसमें कम्प्यूटरों तथा इलेक्ट्रानिक उपकरणों में प्रयुक्त नुकसानदेह सामग्री को धीरे-धीरे समाप्त करने के लिए कहा गया है। उनका दावा है कि यह प्रस्ताव डब्ल्यू.टी.ओ. के नियमों का उल्लंघन करता है। इसी तरह रसायन, प्लास्टिक, इलेक्ट्रानिक्स तथा खाद्य प्रसंस्करण उद्योग अमेरिकी प्रतिनिधिमंडल के जरिए ''इको-लेबलिंग'' को प्रतिबंधित कराने के लिए डब्ल्यू.टी.ओ. पर दबाव डाल रहे हैं। अगर अमेरिका डब्ल्यू.टी.ओ. में अपनी शर्तें लागू कराने में कामयाब हो गया तो दैत्याकार बीमा कम्पनियों के लिए विश्व की स्वास्थ्य सेवाओं को हड़पने का रास्ता खुल जायेगा।

बाजार पर कब्जे के लिए यह सारी तोड़-मरोड़ बड़ी कम्पनियां डब्ल्यू.टी.ओ. में ''मुक्त व्यापार'' के नाम पर करती हैं। यह वही ''मुक्त व्यापार'' है जिसके नाम पर उपनिवेशवादी शक्तियों ने भारत, अफ्रीका, चीन और यहां तक कि यूरोप के कुछ हिस्सों में लोगों को अपने सस्ती लागत पर बने माल खरीदने पर मजबूर किया। किसानों और दस्तकारों की पूरी संस्कृतियां तबाह कर दी गईं।

जैसा कि मार्क्स ने कहा था मुक्त व्यापार हमेशा ही बर्बर शोषण से जुड़ा रहा है। लेकिन तमाम दावों के बावजूद आज एकाधिकारी पूंजीवाद के दौर में मुक्त व्यापार जैसी कोई चीज है ही नहीं। डब्ल्यू.टी.ओ. के भीतर बड़े साम्राज्यवादी देश अपनी-अपनी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए हर सम्भव बाजार के दरवाजे खुलवाने और अपने लिए किसी से भी नुकसानदेह प्रतिस्पर्द्धा को खतम करने के लिए झगड़ते रहते हैं। अमेरिका, यूरोप और जापान केवल उन्हीं क्षेत्रों में ''मुक्त व्यापार'' की मांग करते हैं जहां वे खुद लाभ की स्थिति में हैं। अन्य जगहों पर वे अपने एकाधिकार को कायम रखने के लिए बुरी तरह आपस में लड़ते हैं।

विश्व व्यापार संगठन ने अमरीका के साथ यूरोप के झगड़े में यूरोप के खिलाफ फैसला दिया। यूरोपीय देशों ने इसे मानने से इंकार कर दिया है। अमरीका राष्ट्रीय सुरक्षा का हौव्वा खड़ा कर रहा है ताकि जापान को अमरीकी मर्चेंट नेवी को जहाज बेचने से रोका जा सके। क्लिंटन प्रशासन ने अमरीका को इस्पात बेचने के कारण ब्राजील, जापान और रूस के खिलाफ मुकदमा किया है लेकिन दूसरी तरफ इसने भारत पर यह मांग करते हुए मुकदमा दायर कर दिया कि भारत अपने यहां आयात पर लागू रहे-सहे प्रतिबंधों और कोटा आदि को खत्म कर दे।

विश्व व्यापार संगठन के भीतर असमानताएं बढ़ ही रही हैं। सात बड़ों—अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, जापान, इटली और कनाडा—का सकल राष्ट्रीय उत्पाद 1997 में 200 खरब डालर था यानी विश्व का 64 प्रतिशत उत्पादन उन देशों में हो रहा था जिनकी आबादी विश्व की सिर्फ 11.8 प्रतिशत है।

विश्व की सबसे बड़ी 500 कम्पनियों में से केवल 6 ऐसी हैं जो अमेरिका, यूरोप, कनाडा या जापान से बाहर की हैं। विश्व के सभ्झी 100 बड़े बैंक साम्राज्यवादी देशों के हैं। 1997 के आंकड़ों के मुताबिक साम्राज्यवादी देशों ने 50 खरब डालर का निर्यात किया और करीब इतने का ही आयात किया। विश्व व्यापार के तीन चौथाई से ज्यादा भाग पर उन्हीं का नियंत्रण है। 1997 तक विकासशील देशों पर साम्राज्यवादी बैंकों और सरकारों का कुल 22 खरब डालर का कर्ज लदा हुआ था।

विश्व व्यापार संगठन की निर्णय प्रक्रिया में भी तीसरी दुनिया के देश कहीं नहीं आते। संगठन के वास्तविक शासक बड़े देश बंद कमरों में सौदेबाजी करके जो प्रस्ताव तैयार करते हैं, आम परिषद में उनपर ठप्पा लगाने का ही काम होता है। आम परिषद में फैसले बहुमत से नहीं बल्कि ''आम सहमति'' से यानी पर्दे के पीछे से होने वाली जोर-जबर्दस्ती से लिये जाते हैं। जब अमेरिकी या यूरोपीय व्यापार मंत्री अपनी बातें नहीं मनवा पाते हैं तो वे अपनी सरकारों से गुहार लगाते हैं जो तीसरी दुनिया के देशों के ''अड़ियल'' अधिकारियों की सरकारों के पीछे पड़कर उन्हें अपना रुख बदलने पर मजबूर कर देते हैं।

विवादों के निपटारे की प्रक्रिया तीन देशों के पैनल द्वारा चलाई जाती है जिन्हें अपने पक्ष में करने के लिए बड़े पूंजीवादी देशों की सरकारें जमकर लाबीइंग करती है। अपील की प्रक्रिया बेहद लम्बी और खर्चीली होती है जिसका बोझ उठा पाना छोटे देशों के लिए मुश्किल होता है। दूसरी ओर बड़े चौधरी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की मदद से वकीलों, अनुसंधानकर्ताओं और विशेषज्ञों की पूरी फौज खड़ी कर सकते हैं। विश्व व्यापार संगठन में निर्णय लेने तथा विवादों को सुलझाने की पूरी प्रक्रिया ही मुक्त तथा समान व्यापार के ठीक विपरीत है।

न केवल हमारे देश की बल्कि पूरी दुनिया की स्थिति बताती है कि पूंजीवाद अब इंसानियत को कुछ भी सकारात्मक दे सकने की शक्ति खो चुका है। इतिहास अब पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली शासन प्रणाली और सामाजिक प्रणाली को ही नष्ट करके उनके ऐसे विकल्पों के निर्माण की मांग कर रहा है जिनके अन्तर्गत (1) उत्पादन के साधनों पर उत्पादन करने वालों का स्वामित्व हो (2) उत्पादन मुनाफे के लिए नहीं बल्कि सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से हो और वितरण की व्यवस्था न्यायपूर्ण हो (3) उत्पादन की पूरी प्रणाली समाजीकृत हो जाये (4) पूंजी और सम्पत्ति के विशेषाधिकार पूर्णत: समाप्त हो तथा राज्यतंत्र सच्चे जनतंत्र पर आधारित हो (5) रोजगार, शिक्षा स्वास्थ्य आदि राज्य की जिम्मेदारी हो।

इस क्रांतिकारी विकल्प का निर्माण तभी और सिर्फ तभी हो सकता है जब साम्राज्यवादी भूमण्डलीय तंत्र से पूर्ण विच्छेद कर लिया जाये और देश के भीतर पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उस पर टिकी राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक अट्टालिका को बलपूर्वक ध्वस्त कर दिया जाये। यह दोनों आज एक साथ ही हो सकते हैं क्योंकि देशी पूंजीवाद आज साम्राज्यवाद के भूमण्डलीय तंत्र से पहले हमेशा की अपेक्षा अधिक एकीकृत है और साम्राज्यवाद अपने वायसराय, गर्वनर जनरल और औपनिवेशिक फौज-फांटे के जरिये नहीं, बल्कि देशी पूंजीपतियों की सत्ता के जरिये तथा उनके साथ आर्थिक गंठजोड़ करके जनता को लूट रहा है। यानी आज हमारा देश एक नई क्रांति की दहलीज पर खड़ा है। साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी क्रांति की दहलीज पर, नई समाजवादी क्रांति की दहलीज पर। यह नई क्रांति ही भारतीय जनता की गर्दन पर कसे आर्थिक नवउपनिवेशवाद के लौह शिकंजे को तोड़कर उसे मुक्ति और प्रगति की राह पर अग्रसर कर सकती है।

●

घटिया साहित्य के घटाटोप और अपसंस्कृति के अंधेरे में
उत्कृष्ट, स्तरीय, जनपक्षधर, क्रान्तिकारी क्लासकीय साहित्य को जन-जन तक
पहुंचाने के हमारे मिशन के हमसफर बनें

यदि आपको महज मनोरंजन चाहिए,
महज नशे की एक खुराक,
दिल को बहलाने के लिए एक ख्याल
तो नहीं है ऐसी किताबें हमारे पास।

हम ऐसी किताबें लेकर आये है
जो आपकी मोह निद्रा झकझोरकर तोड दें,
जो आज के हालात के बारे में
आपको सोचने के लिए मजबूर कर दें।
हम किताबें नहीं लड़ने की जिद
और हालात की बेहतरी की उम्मीदें
लेकर आये हैं,
हम आने वाले कल के सपने लेकर आये हैं

हम लेकर आये हैं
एक सार्थक, स्वाभिमानी, मुक्त जीवन की तड़प ।
किताबें नहीं
हम असली इंसान की तरह
जीने का संकल्प लेकर आये हैं

आम लोगों के लिए
जरूरी हैं वे किताबें
जो उनकी जिन्दगी की घुटन
और मुक्ति के स्वप्नों तक
पहुंचाती हैं विचार
जैसे कि बारूद की ढेरी तक
आग की चिनगारी ।
घर-घर तक चिनगारी छिटकाने वाला
तेज हवा का झोंका बन जाना होगा
जिन्दगी और आने वाले दिनों का सच
बतलाने वाली किताबों को
जन-जन तक पहुंचाना होगा।

जनचेतना

प्रगतिशील साहित्य का उत्कृष्ट प्रतिष्ठान

* देश-विदेश की क्लासकीय कृतियां * प्रतिनिधि-समकालीन साहित्य * मानविकी और विज्ञान की चुनी हुई स्तरीय पुस्तकें * मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी साहित्य * वामपंथी राजनीतिक पत्रिकाएं * प्रगतिशील साहित्यक पत्रिकाएं * उत्कृष्ट एवं सस्ता बाल साहित्य * क्रान्तिकारी जनसंगठनों का प्रचार साहित्य * क्रान्तिकारी गीतों के कैसेट

अच्छे साहित्य की खरीद को अपने बजट का जरूरी मद बनाएं!

आज ही हमसे मिलें या डाक से पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें!

जाफरा बाजार, गोरखपुर-273001 (शाम 4 से 8 बजे, मंगलवार अवकाश)
हजरतगंज, निकट काफी हाउस, लखनऊ-226001 (शाम 5 से 8.30 बजे, रविवार अवकाश)
81, समाचार अपार्टमेण्ट, मयूर विहार फेज-एक, दिल्ली-110091

विश्व व्यापार संगठन और इसकी आक्टोपसी भुजाएं

सीमा शुल्क एवं व्यापार सम्बन्धी आम समझौता (गैट) पर 1980 के दशक के उत्तरार्द्ध में चली उरुग्वे दौर की वार्ताओं से विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) के दानव का जन्म हुआ। डब्ल्यू.टी.ओ., आई.एम.एफ. और विश्व बैंक की तिकड़ी आज आर्थिक नवउपनिवेशवाद के दौर के नवक्लासिकी पूंजीवाद के लुटेरे तंत्र को चला रही है। इस तंत्र के एक सिरे पर है मेहनतकश जनता जिसे भूखे भेड़ियों के सामने खुला छोड़ दिया गया है। दूसरे सिरे पर छोटे से बड़े लुटेरों की पूरी जमात है। इसमें सबसे नीचे गरीब मुल्कों के शासक हैं जो अपनी जनता को देशी-विदेशी लुटेरे गिरोहों से जमकर लुटवाते हैं और साथ ही लूट के माल में ज्यादा हिस्सा पाने के लिए बीच-बीच में अपने आकाओं को बंदरघुड़की भी देते रहते हैं। बड़े साम्राज्यवादी मुल्क भी एक-दूसरे के साथ गलाकाटू होड़ में उलझे रहते हैं। लेकिन अपने से नीचे के लुटेरों का हिस्सा मारने के लिए सारे ऊपर वाले एक हो जाते हैं और दुनिया की जनता का खून चूसने के मामले में तो छोटे-बड़े दुबले-मोटे सारे भेड़िये आपसी झगड़े भूलकर एक हो जाते हैं।

भारत का शासक वर्ग शुरू से ही इस अन्तरराष्ट्रीय लूटतंत्र का हिस्सा बनने के लिए बेताब हो रहा है। गैट पर सबसे पहले हस्ताक्षर करने वालों में भारत था और डब्ल्यू.टी.ओ. का भी यह पहले दिन से सदस्य रहा है। केन्द्र में सरकारें बदलती रही हैं और हर रंग की बुर्जुआ पार्टी शासन में रह चुकी है पर 1991 से भारत सरकार डब्ल्यू.टी.ओ., आई.एम.एफ. और विश्व बैंक के निर्देशों पर चलते हुए ढांचागत समायोजन कार्यक्रम जोर-शोर से चला रही है।

तथाकथित ''मुक्त व्यापार'' के नारे की असलियत यह है कि भूमंडलीकरण के नाम पर पूरी दुनिया में बड़ी पूंजी का एकाधिकार कायम किया जा रहा है। यह एकाधिकार सबसे बढ़कर वित्तीय एकाधिकार के रूप में सामने आता है। इसके अलावा तकनोलाजी पर एकाधिकार, धरती के प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच के एकाधिकार, मीडिया और संचार पर एकाधिकार के जरिए साम्राज्यवादी मुल्कों और उनकी कुछ सौ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का लूटतंत्र चल रहा है।

गैट के तहत 1948 से 1985 तक सात दौरों की वार्ताएं हुईं तथा कई समझौते हुए। इन सबका मुख्य उद्देश्य उद्योगों द्वारा तैयार मालों के व्यापार में सीमाशुल्क तथा अन्य बाधाओं को कम करना था। उरुग्वे में सितम्बर 1986 को शुरू हुई आठवें दौर की वार्ताओं का दायरा बढ़ाकर मैन्युफैक्चर मालों के साथ-साथ सेवाओं तथा कृषि का क्षेत्र भी इसमें शामिल कर लिया गया। गैट के महानिदेशक आर्थर डंकेल की रिपोर्ट को 15 अप्रैल 1994 को मोरक्को के मरक्केश शहर में हुई मंत्री स्तरीय बैठक में मंजूरी दे दी गई और एक जनवरी 1995 को विश्व व्यापार संगठन ने काम शुरू कर दिया।

दुनिया पर बड़ी पूंजी के शिकंजे को मजबूत करने के लिए डब्ल्यू.टी.ओ. के पांच मुख्य औजार हैं। ये हैं—व्यापार-सम्बन्धी निवेश कार्रवाइयां (ट्रेड रिलेटेड इनवेस्टमेंट मेजर्स—ट्रिम्स), व्यापार-सम्बन्धी बौद्धिक सम्पदा अधिकार (ट्रेड रिलेटेड इंटेलेक्चुअल प्रोपर्टी राइट्स—ट्रिप्स), सेवाओं के व्यापार-सम्बन्धी आम समझौता (जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड इन सर्विसेज—गैट्स), कृषि सम्बन्धी समझौता (एग्रीमेण्ट ऑन एग्रीकल्चर—ए.ओ.एस.) और विवाद निपटारा तंत्र (डिस्प्यूट सेटलमेंट मेकेनिज्म—डी.एस.एम.)।

ट्रिम्स

ट्रिम्स के तहत बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भी देशी कम्पनियों का दर्जा देना अनिवार्य है। यह इस बात पर जोर देता है कि बहुराष्ट्रीय पूंजी को देशी पूंजी के साथ बराबरी का मैदान मुहैया कराया जाये। इस समझौते को लागू करने के लिए भारत सरकार ने एकाधिकार एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार कार्रवाइयां (एन.आर.टी.पी.) तथा विदेशी मुद्रा नियमन कानून (फेरा) जैसे कानून रद्द कर दिये। हाल ही में भारत में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को विशिष्ट मार्केटिंग अधिकार (ई.एम.आर.) दे दिये गये हैं।

ट्रिप्स

ट्रिप्स ''बौद्धिक सम्पदा'' और ''औद्योगिक सम्पदा'' को संरक्षित करता है। हाल के वर्षों में इन दोनों को एक दूसरे को पर्याय बना दिया गया है। बौद्धिक सम्पदा का मतलब होता है साहित्यिक एवं कलात्मक कृतियों, कम्प्यूटर प्रोग्रामों, इंटिग्रेटेड सर्किट एवं इंफार्मेटिक्स पर कापी राइट तथा अन्य सम्बन्धित अधिकार। औद्योगिक सम्पदा के तहत पेटेंट ट्रेड मार्क, आविष्कारक प्रमाण पत्र आदि आते हैं। भारत सरकार ने बड़ी तत्परता के साथ ट्रिप्स समझौते के तकाजों के मुताबिक भारतीय पेटेंट कानून, 1970 में संशोधन कर दिये हैं।

गैट्स

1970 के दशक से विश्व अर्थव्यवस्था में मैन्युफैक्चरिंग के बजाय सेवा क्षेत्र पर जोर और इसका दायरा बढ़ता गया है। इस बदलाव की मुख्य शक्ति और इससे सर्वाधिक फायदा बटोरने वाले बहुराष्ट्रीय निगम ही रहे हैं। इसीलिए उरुग्वे दौर की वार्ताओं में उन्होंने दबाव डालकर डब्ल्यू.टी.ओ. के तहत गैट्स को लागू कराया। भारत में तथाकथित 'दूसरे दौर के सुधारों' का उद्देश्य गैट की मांगों को पूरा करना है।

ए.ओ.ए

बहुराष्ट्रीय कृषि व्यापार को विशेष संरक्षण और सुविधाएं देने के लिए कृषि को भी डब्ल्यू.टी.ओ. के दायरे में लेआया गया है। ए.ओ.ए. के तहत भारत में बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनियों तथा कृषि से जुड़ी अन्य विशाल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को बाजार में पहुंच बनाने तथा देश के कृषि संसाधनों पर कब्जा करने का रास्ता मिल गया है।

डी.एस.एम

डब्ल्यू.टी.ओ. में अब विवादों के निपटारे के लिए एक नया तंत्र भी है जिसके पास गैर शुल्क अवरोधों को खत्म कराने के लिए पहले से भी ज्यादा शक्तियां हैं। पहले तीन वर्ष में ही डब्ल्यू.टी.ओ. ने 132 शिकायतों पर सुनवाई की (इनमें से ज्यादातर अमीर देशों के पक्ष में फैसला हुआ) जबकि गैट ने 47 वर्ष में सिर्फ 300 शिकायतें सुनी थीं।

देशी-विदेशी पूंजीपतियों को खुश करने के लिए सार्वजनिक उपक्रमों को कौड़ियों के मोल बेचने पर आमादा सरकार

• शरद कुमार

मनमोहन सिंह ने जब 8-9 वर्ष पहले सार्वजनिक उपक्रमों के शेयर बेचने की शुरुआत की थी तो सरकारी घाटा कम करने की अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की शर्तों का रोना रोते हुए और ''हिचकिचाते'' हुए ऐसा किया था। उन्हें बार-बार सरकार की मजबूरियों की सफाई देने और बहाने बनाने को मजबूर होना पड़ता था। लेकिन तब से निजीकरण की प्रक्रिया यहां तक पहुंच चुकी है कि सरकार धड़ल्ले से और बेझिझक एक के बाद एक सार्वजनिक उपक्रम को बेचने की घोषणा करती जा रही है।

भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार ने तो सार्वजनिक उपक्रमों को बेचने का अत्यन्त आक्रामक अभियान चला रखा है। यूनियनों से लेकर विपक्ष तक किसी से भी तगड़े विरोध की अनुपस्थिति में यह सरकार अब विदेशी निवेशकों को लुभाने के लिए फायदे में चल रहे उपक्रमों को भी औने-पौने दाम पर बेचने की बेशर्मी पर आमादा हे।

वित्तमंत्री ने सार्वजनिक उपक्रमों को बेचकर इस वर्ष 10,000 करोड़ से एक लाख करोड़ रुपये तक जुटाने का लक्ष्य रखा है जिसे पूरा करने के लिए सरकार ने उन उपक्रमों को भी बेचने का फैसला कर लिया जिनके बारे में पहले कोई सोचता तक नहीं था। पहले उद्यमों को लगातार उपेक्षा व भ्रष्टाचार के जरिए घाटे में धकेलकर या पहले से घाटे में चल रहे उपक्रमों के ही निजीकरण की बात होती थी पर अब घाटा तो दूर अच्छे-खासे मुनाफे में चल रही कम्पनियों पर भी गाज गिराने की तैयारी करा ली गई है। पिछले दिनों केन्द्रीय मंत्रिमंडल की विनिवेश समिति ने माइन्स एंड मिनरल्स ट्रेडिंग कारपोरेशन (एमएम टीसी), स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन (एस टी एसी) तथा शिपिंग कारपोरेशन जैसी सार्वजरिक क्षेत्र की दस और कम्पनियों के बहुसंख्यक शेयर बेचने का फैसला कर लिया। विनिवेश मंत्री अरुण जेटली ने कहा है कि समिति ने विनिवेश के लिए पहले से चुनी गई करीब 20 कम्पनियों की शेयर बिक्री को इसी साल पूरा करने के कार्यक्रम को भी मंजूरी दे दी है। इनमें एअर इंडिया, इंडियन एअरलाइंस, आई टी डी सी, बाल्को और आई पी सी एल शामिल हैं। इनके अलावा दस और कम्पनियों के शेयर बेचने का भी फैसला लिया गया है। इनमें हिन्दुस्तान जिंक लिमिटेड, शिपिंग कारपोरेशन आफ इंडिया, हिन्दुस्तान आर्गेनिक्स एंड केमिकल्स लिमिटेड, हिन्दुस्तान इंसेक्टी साइड्स लिमिटेड, एमएम टीसी, राज्य व्यापार निगम (एस टी सी), स्पंज आयरन लिमिटेड, मिनरल एक्सप्लोरेशन कारपोरेशन लिमिटेड, होटल अशोक उत्कल और होटल अशोक रांची शामिल हैं। इससे पहले ही विनिवेश मंत्री कह चुके थे कि वर्तमान वित्त वर्ष के दौरान 30 से 40 सार्वजनिक उपक्रमों को निजीकरण के लिए कतार में रखा जायेगा।

पश्चिम बंगाल में चार बड़े उपक्रमों को बंद करने की घोषणा से उनके हजारों मजदूरों और उनके परिवारों पर कुठाराघात हुआ है। सिर्फ पांच वर्ष पहले तक इन चार कारखानों में 25,000 हजार लोग काम करते थे लेकिन इन्हें क्रमश: बीमार बनाकर 'बायफर' के हवाले कर दिया गया। धीरे-धीरे ज्यादातर लोग यहां से चले गये पर 2500 मजदूर आखिरी उम्मीद लेकर अब भी टिके हुए हैं। उत्तर प्रदेश बिजली मजदूरों की हड़ताल को बर्बर ढंग से कुचलकर उत्तर प्रदेश राज्य विद्युत परिषद को तीन हिस्सों में बांटकर निजीकरण की तैयारी कर ली गई है तो उधर राजस्थान विद्युत परिषद को पांच कम्पनियों में बांटकर निजी हाथों में सौंपने का पूरा इंतजाम कर दिया गया है।

जनता के खून-पसीने की कमाई से खड़े किये गये सार्वजनिक उपक्रमों को किस तरह से औने-पौने दामों पर बेचा जा रहा है और इसकी प्रक्रिया किस कदर भ्रष्टाचार से भरी हुई है इसे जानने के लिए सिर्फ आई सी पी एल और मार्डन फूड्स के ही उदाहरण काफी हैं।

1980 के दशक में स्थापित आई सी पी एल भारत में अपने ढंग का पहला पेट्रो-केमिकल कारखाना था। बाद में रिलायंस इंडस्ट्रीज ने इससे भी बड़ी एक इकाई स्थापित की और तीसरी ऐसी इकाई हल्दिया में कई साल से बन रही है। आई सी पी एल लगातार मुनाफा कमाती रही है। (देखें तालिका)

तालिका

आई पी सी एल का प्रदर्शन

(करोड़ रुपए में)

	अंशपूंजी	कर-पश्चात लाभ
1994-95	249	563
1995-96	249	604
1996-97	249	510
1997-98	249	244
1998-99	249	29

1998-99 के दौरान विनिवेश आयोग की एक सिफारिश के बाद अचानक यह अफवाह फैलाई गई कि सरकार आई पी सी एल को रिलायंस को सौंप रही है।

आई पी सी एल का मुनाफा कम करते जाने और इसे कौड़ियों के मोल बेचने तक ले आने के पीछे बाकायदा एक साजिश के सूत्र साफ नजर आते हैं। विनिवेश आयोग ने आई पी सी एल को ''गैर-बुनियादी'' उद्योग की श्रेणी में रखा और एक अजीब सी सिफारिश की कि सरकार एक ''दूरगामी भागीदार'' को इसके 25 प्रतिशत शेयर बेच दे तथा आई पी सी एल का प्रबंधकीय नियंत्रण भी उसी को सौंप दे। हालांकि इस विनिवेश के बाद भी 34.9 प्रतिशत अंश पूंजी के साथ सबसे बड़ा शेयरधारक सरकार ही रहती। यह सिफारिश उस समय आई जब आई पी सी एल को केन्द्रीय सार्वजनिक उपक्रमों के नवरत्नों में से एक घोषित किया जा चुका था।

सरकार ने फटाफट इस सिफारिश को मानकर बिक्री के टेंडर जारी कर दिये। कुल चार प्रस्ताव आये जिनमें से एक रिलायंस का, दो विदेशी कम्पनियों के तथा एक इंडियन आयल कारपोरेशन का था जिसे फौरन खारिज कर दिया गया। बाद में दोनों विदेशी कम्पनियां पीछे हट गईं और रिलायंस का रास्ता एक तरह से साफ हो गया है। पिछले दो वर्षों से आई पी सी एल का कोई अध्यक्ष सह-प्रबन्ध निदेशक नियुक्त नहीं किया गया है। आई पी सी एल के भविष्य को लेकर फैली आशंकाओं के मद्देनजर अनेक वरिष्ठ तकनीकी अधिकार इसे छोड़-छोड़कर रिलायंस में चले गये। आम मजदूरों में भी काम का उत्साह कम होता गया जिसका सीधा परिणाम यह हुआ कि 1996-97 की तुलना में अगले वर्ष में इसका भी दसवां हिस्सा रह गया।

आई पी सी एल के संभावित सौदे में कितने बड़े पैमाने का घोटाला होने जा रहा है इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि तथाकथित ''दूरगामी भागीदार'' सिर्फ 1100 करोड़ रुपये लगाकर 25 प्रतिशत शेयर पा जायेगा और 10,000 करोड़ रुपये से ज्यादा की परिसम्पत्तियों तथा 2780 करोड़ रुपये के नकद कोषों पर नियंत्रण हासिल कर लेगा।

इससे भी ज्यादा अंधेरगर्दी तो दिल्ली की मार्डन फूड इंडस्ट्रीज को बेचने में हुई है। कुल 105 करोड़ रुपये में यह कम्पनी हिन्दुस्तान लीवर को थाल में सजाकर दे दी गई जबकि अकेले उसकी जमीन की ही कीमत पांच सौ करोड़ से ज्यादा है। इसके अलावा पूरी कालोनी, फैक्टरी वाली जमीन पर इमारतें, मशीनें, कच्चा माल, गोदामों में तैयार माल और कम्पनी की साख सहित कम से कम इसकी परिसम्पत्ति 2000 करोड़ रुपये की थी।

सार्वजनिक उपक्रमों को कौड़ियों के मोल बेचने के सरकारी अभियान से उद्योगपतियों की बांछें खिल गई हैं। उनकी भूख और बढ़ गई है और फिक्की, सी आई आई जैसे उनके संगठन मारुति, विदेश संचार निगम तथा महानगर टेलीफोन निगम जैसे भारी मुनाफा कमाने वाले 'ब्लू चिप' सार्वजनिक उपक्रमों को बेच डालने के लिए चीख-पुकार मचा रहे हैं। दूरसंचार सेवाओं को निजी क्षेत्र के लिए खोलकर और दूरसंचार विभाग का निगमीकरण करके इस दिशा में शुरुआत भी की जा चुकी है।

1947 के बाद भारत में सार्वजनिक क्षेत्र का विकास उस समय के पूंजीपति वर्ग की जरूरतों के मुताबिक ही हुआ था। टाटा-बिड़ला योजना के आधार पर नेहरू ने विकास की जो दिशा चुनी थी उसमें दोहरा फायदा था। उस समय भारतीय पूंजीपति वर्ग के पास इतनी क्षमता ही नहीं थी कि वह अपने दम पर सड़क, यातायात, परिवहन, रेलें, संचार, लोहा-इस्पात जैसे भारी पूंजी निवेश वाले उद्योग लगा सकता। यह काम जनता से पूंजी उगाह कर किया गया और जनता को भरमाने के लिए इसे ही समाजवाद का नाम दे दिया गया। जनता की गाढ़ी कमाई से बने इन बुनियादी उद्योगों से भारी सब्सिडी पर तमाम सुविधाएं पाकर पूंजीपति वर्ग ने मुनाफा कमाया। आज जब जनता को लूट कर वह इस स्थिति में पहुंच गया है कि खुद इनसे मुनाफा कमा सके तो वह किसी भी तरह इन्हें पाने को बेताब हो गया है। अब एक-एक करके इन उद्योगों को निजी हाथों में सौंपा जा रहा है ताकि मेहनतकश लोगों की कमाई से खड़े इन उद्योगों से पूंजीपति मुनाफा बटोरें।

सरकार बार-बार आश्वासन दे रही है कि विनिवेश की प्रक्रिया में मजदूर हितों का पूरा ध्यान रखा जायेगा। लेकिन से नई श्रम नीति, बीमा नियमन विधेयक, बैंकों में जारी निजीकरण की प्रक्रिया, ठेका प्रथा-छंटनी-तालाबंदी की खुली छूट जैसे घोर मजदूर विरोधी निर्णय जिस तरह यह सरकार ले रही है ऐसे में यह उम्मीद करना कि विनिवेश करते समय मजदूर हितों की अनदेखी नहीं की जायेगी, बेवकूफी ही होगी।

निजीकरण और विनिवेश का काम भारत में पहली बार नहीं हो रहा है। दुनिया के जिन देशों में, खासकर लातिन अमेरिका में यह प्रक्रिया भारत से पहले से चल रही है वहां के मजदूरों की आज की भंयकर स्थिति से सबक लिया जा सकता है।

इस पूरी प्रक्रिया में स्थापित ट्रेड यूनियन नेताओं और लाल झण्डे के नाम पर संसद की राजनीतिक करने वाली पार्टियों की भूमिका दल्लों से ज्यादा की नहीं रही है। थोड़ी बहुत चेंचें करने के अलावा उन्होंने कभी भी निजीकरण के खिलाफ कोई व्यापक और संगठित आन्दोलन खड़ा करने की कोशिश नहीं की। यहां तक कि जब सारे देश के मजदूर लड़ने को तैयार थे तब भी ऐन मौके पर सरकार से कोई आश्वासन तक पाये बिना इन्होंने हड़ताल वापस लेकर पूरी तरह घुटने टेक दिये।

यह बात दिन ब दिन और साफ होती जा रही है कि बैंक, बीमा, बिजली, डाकतार, दूरसंचार रेलवे से लेकर तमाम क्षेत्र के मजदूरों-कर्मचारियों की आज एक ही लड़ाई बनती है। लेकिन वे बंटे-बिखरे हैं। उनके जो आन्दोलन खड़े भी हुए तो ट्रेड यूनियन नेतृत्व के विश्वासघात से गड्ढे में जा गिरे। क्या मजदूरों-कर्मचारियों की संगठित शक्ति को इस कदर खण्ड-खण्ड में तोड़ देने के लिए पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन का वह नेतृत्व दोषी नहीं है, जो खुद इस या उस पूंजीवादी या सुधारवादी या कथित वामपंथी पार्टी के साथ नत्थी है और अलग-अलग यूनियनों में विभाजित मजदूरों-कर्मचारियों को भी उनका बंधुआ बना रखा है? क्या यह सच नहीं है कि लगातार महज वेतन-वृद्धि और सहूलियतों की अपनी-अपनी लड़ाई अलग-अलग लड़ते-लड़ते अलग-अलग क्षेत्रों के मजदूर एक दूसरे से अलग हो गये हैं। 'मजदूर एकता' और इंकलाब जिन्दाबाद' के नारे उनके लिए रस्मी बनकर रह गये हैं, राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ना वे भूल चुके हैं। इस मौके पर बैंक कर्मियों को ही नहीं, अपितु तमाम क्षेत्रों के मजदूरों-कर्मचारियों को यह बात गांठ बांधने की है कि उन्हें पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में क्रान्तिकारी पुनर्जागरण की लहर पैदा करनी होगी तथा चुनावी पार्टियों और पुराने नौकरशाह नेतृत्व से छुटकारा पाकर अपना नया क्रान्तिकारी हरावल दस्ता बनाना होगा, चन्द एक प्रोग्राम लेने तक ही सीमित रहने के बजाय लम्बे संघर्ष का कार्यक्रम तय करना होगा।

यह लड़ाई सिर्फ तभी जीती जा सकती है, जब जीतने के लिए लड़ा जाये। बेमन से, अधूरे मन से, लड़ी जाने वाली महज अनुष्ठान धर्मी लड़ाइयों का हश्र सिर्फ हताशा में परिणत होगा। उदारीकरण-निजीकरण के विरोध में तमाम हारी गयी लड़ाइयों का यही सबक है। इसके साथ ही अपने अस्तित्व की इस लड़ाई को व्यापक बनाते हुए अन्य संघर्षरत केन्द्र एवं राज्यकर्मियों के संघर्षों से, उदारीकरण-निजीकरण की मार झेल रहे मजदूरों के अन्य तबकों से जोड़ना होगा। और सबसे अहम सवाल, विरोध की दिशा का है—सिर्फ हासिल अधिकारों को बचाने की लड़ाई ही नहीं बल्कि इसे एक सही क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य देना होगा और पूंजीवादी-साम्राज्यवादी लूट के समूचे तंत्र के विकल्प के रूप में उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व वाले समाजवादी समाज के विकल्प को सामने रखकर आगे बढ़ना होगा।

सांख्यवाहिनी परियोजना

देश की बौद्धिक सम्पदा की लूट का इन्फार्मेशन सुपरहाइवे

• भूपेश कुमार सिंह

जनसंचार के माध्यमों पर नियंत्रण राजनीतिक और आर्थिक सत्ता का महत्वपूर्ण उपकरण रहा है। भूमंडलीकरण के दौर में यह अन्तरराष्ट्रीय पूंजी की सत्ता के न केवल सबसे ताकतवर हथियारों में से एक बन गया है बल्कि मनोरंजन और सूचना उद्योग आज सर्वाधिक मुनाफा पैदा करने वाले उद्योगों में से एक हैं। नये कम्प्यूटर आधारित संचार माध्यमों के उभरने और इंटरनेट के विकास के साथ दूरसंचार और प्रसारण के एकीकरण से यह सबसे बड़ा और सबसे तेजी से विकसित हो रहा सेक्टर बन गया है। बाजार पर कब्जे के लिहाज से दुनिया की चार सबसे बड़ी फर्मों में सें तीन और पचास सबसे बड़ी फर्मों में से तेरह इसी सेक्टर की हैं।

आज विश्व की कुल पूंजी के 20 प्रतिशत से भी कम भाग वास्तविक उत्पादन और विनिर्माण की कार्रवाइयों में लग रहा है। ज्यादा हिस्सा सूचना, मनोरंजन, विज्ञापन, सट्टेबाजी और सेवा क्षेत्र में लग रहा है और सूचना प्रौद्योगिकी इसकी रीढ़ है। जिसका इसपर नियंत्रण होगा वह भारी मुनाफा कमाने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था को अपनी उंगलियों पर नचा सकेगा। शिक्षा से लेकर रक्षा तक उसकी घुसपैठ होगी। सांख्यवाहिनी परियोजना को सम्पूर्णता में इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। इसे मंजूरी देने में हुआ भंयकर भ्रष्टाचार तो अब हर बड़े सौदे की तरह एक 'रुटीन' बात बन चुका है लेकिन नियम-कानूनों को ताक पर रखकर सांख्यवाहिनी को मंजूरी देने का मामला उजागर होने के बाद भी सरकार जिस तरह से इसपर अड़ी रही और इसमें हुई गड़बड़ी का प्रमाणों सहित भण्डाफोड़ करने वाले स्वदेशी जागरण मंच से लेकर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी तक ने जिस तरह इस पर चुप्पी साध ली वह बताता है कि इस परियोजना के पीछे भारतीय और अमेरिकी पूंजी की पूरी ताकत लगी हुई है। बोफोर्स और शेयर घोटाले से कहीं ज्यादा बड़े और कहीं ज्यादा दूरगामी घातक नतीजों वाले इस घोटाले का पर्दाफाश होने के बावजूद सरकार ने पूरी बेशर्मी के साथ बिना किसी फेरबदल के जिस तरह इसे आगे बढ़ाया है और पूरा का पूरा बुर्जुआ मीडिया सनसनीखेज रिपोर्टिंग का सारा मसाला होने के बावजूद जिस तरह इस मामले पर अचानक खामोश हो गया वह भी यही बताता है कि देशी-विदेशी पूंजी मुनाफा बटोरने के इस नये रास्ते में रोड़ा बनने वाले किसी भी विरोध को चुप कराने के लिए किस कदर आमादा है।

क्या है सांख्यवाहिनी परियोजना?

सांख्यवाहिनी इंडिया लि. (एस.वी.आई.एल.) एक नई कम्पनी है जिसमें अमेरिका के कारनेगी मेलोन विश्वविद्यालय की कम्पनी आईयूनेट का शेयर 49 प्रतिशत और दूरसंचार सेवा विभाग (डी.टी.एस.) का शेयर 45 प्रतिशत है। शेष 6 प्रतिशत शेयर आई.आई.टी. जैसी संस्थाओं के पास हैं। एस.वी.आई.एल भारत में मौजूद 10,000 किलोमीटर आप्टिक फाइबर (ट्रांसमिशन) नेटवर्क का इस्तेमाल करेगी और नई तकनोलाजी से इसकी क्षमता को 100 से 1000 गुना तक बढ़ायेगी। यह नेटवर्क दूरसंचार सेवा विभाग का है। इसकी क्षमता बढ़ाने के लिए नई तकनोलाजी और उपकरण आईयू नेट लायेगी।

शुरू में इस हाई स्पीड डाटा नेटवर्क से शैक्षणिक और शोध संस्थानों को जोड़ा जायेगा और बाद में सरकारी विभागों, औद्योगिक घरानों, साफ्टवेयर कम्पनियों, बैंक एवं वित्तीय कम्पनियों तथा इंटरनेट सेवा कम्पनियों को भी इससे जोड़ दिया जायेगा। आने वाले वर्षों में इंटरनेट के साथ-साथ टेलीफोन सेवाएं तथा टीवी प्रसारण भी इससे जुड़ जायेंगे। शुरू में ही इसमें 1500 करोड़ रुपये का पूंजी निवेश होना है।

लेकिन जिस ढंग से यह सारा मामला चल रहा है उसमें अब संदेह की बात नहीं बल्कि भयंकर भ्रष्टाचार और अमेरिकी कम्पनियों के सामने सरकार के बेशर्मी से घुटने टेकने के स्पष्ट प्रमाण सामने हैं। अमेरिकी कम्पनियों ने इस परियोजना को धकियाकर मंजूर करने में जो-जो चालबाजियां और जालसाजियां की हैं उससे उन लोगों की आंखें खुलनी चाहिए जो अमेरिकी 'प्रोफेशनलिज्म' और बुर्जुआ ईमानदारी की दुहाई देते थकते नहीं हैं। जिस ढंग से यह समझौता हुआ, जिसके साथ यह समझौता हुआ और जिसने इसे मंजूरी दी, इन सबसे घपले-घोटाले की बू आ रही है।

सरकार अपनी सफाई में कह रही है कि योजना आयोग के तत्कालीन उपाध्यक्ष जसवंत सिंह की अध्यक्षता में सूचना प्रौद्योगिकी के लिए गठित टास्कफोर्स ने इसे मंजूरी दी थी। आंध्र प्रदेश के 'साइबर' मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू भी इसके सदस्य थे। किसी टास्क फोर्स को यह अधिकार नहीं होता कि वह परियोजना को मंजूरी दे दे। वह केवल यह सुझाव दे सकती है कि इस तरह की परियोजना जरूरी है। मसलन, इस समय देश में दस लाख इंटरनेट कनेक्शन हैं। माना जाता है कि औसतन एक इंटरनेट कनेक्शन का इस्तेमाल सात-आठ लोग करते हैं। टास्कफोर्स ने अनुमान लगाया है कि अगले दस सालों में देश में डेढ़ करोड़ कनेक्शनों की जरूरत पड़ेगी। ऐसी हालत में मौजूदा बैंडविड्थ की क्षमता बढ़ानी होगी। इस तरह के आकलन का काम टास्कफोर्स का था लेकिन उसने बाकायदा अमेरिकी कम्पनी द्वारा तैयार परियोजना को मंजूरी दे दी। इसे भी चुपके से किया गया। सरकार के ही एक मंत्रालय ने कहा है कि वह कार्यवाही विवरण गायब है जिसमें सांख्यवाहिनी परियोजना को मंजूरी दी गई। मंत्रिमंडल तक को इस मामले में अंधेरे में रखा गया। कारनेगी मेलोन विश्वविद्यालय के बारे में भी पूरी जानकारी नहीं दी गई।

यह एक व्यावसायिक और निजी विश्वविद्यालय है जो शिक्षा के बजाय अनुसंधान के कामों को व्यावसायिक तौर पर करता है। मुख्यत: यह अमेरिकी रक्षा संस्थानों के लिए काम करता है। इस विश्वविद्यालय ने डाटा नेटवर्क के कारोबार के लिए पहले 'जीयू नेट' नाम से एक लिफाफा कम्पनी बनाई। उसी की 100 प्रतिशत अधीनस्थ शाखा है 'आईयू नेट'। इस परियोजना को भारत में लाने और इसके लिए जमकर लाबीइंग करने वाले जिन राज रेड्डी और वी.एस. अरुणाचलम को विश्वविद्यालय का प्रोफेसर बताया जाता है वे वास्तव में उस कम्पनी के कर्मचारी हैं।

सांख्यवाहिनी परियोजना के सहमति पत्र पर 16 अक्टूबर 1998 को ही दस्तखत हो गये थे जबकि कम्पनी उसके तीन महीने बाद छह जनवरी को बनी। यह भी साफ नहीं है कि सम्बन्धित विभाग के तत्कालीन सचिव वाशिंगटन जाकर किसकी अनुमति से सहमति पत्र पर हस्ताक्षर कर आये। इतने बड़े पैमाने की परियोजना के लिए न तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर टेंडर मंगाये गये और न ही अन्य विकल्पों की छानबीन की गई। कई विशेषज्ञों का कहना है कि भारत में ही इस परियोजना को तैयार किया जा सकता था। दूसरे आईयू नेट सांख्यवाहिनी में लगने वाले यंत्रों और तकनोलाजी का ब्यौरा देने को तैयार नहीं है क्योंकि इससे यह असलियत सामने आ जायेगी कि वह जो तकनोलाजी भारत ला रही है उससे सैकड़ों गुना ज्यादा क्षमता की तकनीक पर अमेरिका में शोध अन्तिम चरण में है। जबतक सांख्यवाहिनी भारत में लागू होगी तबतक औद्योगिक देश बहुत आगे बढ़ चुके होंगे।

संयुक्त क्षेत्र की इस कम्पनी का प्रबंधकीय नियंत्रण भी आईयूनेट के ही हाथों में होगा। इसके सात सदस्यीय बोर्ड में तीन सदस्य आईयू नेट के तथा तीन डी.टी.एस. के होंगे और एक आई.आई.टी. संस्थानों द्वारा मनोनीत किया जायेगा। पहले पांच वर्ष के लिए बोर्ड का अध्यक्ष आईयू नेट द्वारा मनोनीत होगा। परियोजना किस दिशा में और किस हद तक विकसित होगी, इसका पूरा नियंत्रण राज रेड्डी और अरुणाचलम के हाथों में होगा जो अमेरिकी कम्पनियों के भाड़े के टट्टू भर हैं।

तकनोलाजी अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती। वह व्यापक समाज के भले के लिए काम करे या तबाही लाये इसका फैसला उसका प्रयोग करने वाली सामाजिक व्यवस्था से होता है। सांख्यवाहिनी जैसी कोई परियोजना निश्चित रूप से सूचना और संचार माध्यमों को विकास की नई मंजिल पर ले जायेगी, लेकिन मौजूदा व्यवस्था में यह देशी-विदेशी लुटेरों के तंत्र को और सक्षम, कुशल और व्यापक बनाने का ही काम करेगी।

तथाकथित सूचना 'क्रान्ति' से देश में होने वाले 'विकास' को हम देख चुके हैं। अब सांख्यवाहिनी के 'इंफार्मेशन सुपरहाइवे' पर चलकर आने वाली सूचना महाक्रान्ति के चमत्कारों की असलियत पर भी एक नजर डाल लेना जरूरी है। पिछले 7-8 वर्षों में करीब 3 लाख छोटे-बड़े उद्योग बंद हो चुके हैं और ढाई करोड़ से ज्यादा लोग रोजी-रोटी खो चुके हैं, बीस करोड़ से ज्यादा नौजवान बेरोजगार हैं, गरीब और मध्यम किसान गांवों से उजड़ रहे हैं और करोड़ों मजदूर औद्योगिक क्षेत्रों के नरककुंडों में जानवर की तरह खट और रह रहे हैं—उनके लिए यह सूचना क्रान्ति कुछ और तबाही ही लायेगी। बेरोजगारी और बढ़ायेगी, लुटेरों के तंत्र को और मजबूत बनायेगी। देश में इस समय करीब दस लाख इंटरनेट कनेक्शन हैं जिनमें से करीब 50,000 व्यक्तिगत कनेक्शन हैं और शेष व्यावसायिक हैं जिनपर एक से ज्यादा लोग काम करते हैं। अनुमानत: देश में महज 40 लाख लोग इंटरनेट पर काम करते हैं जबकि देश की कुल श्रमशक्ति करीब 35 करोड़ है जिसका बड़ा हिस्सा बढ़ती बेरोजगारी, छंटनी, तालाबंदी, महंगाई और बर्बर शोषण-उत्पीड़न का शिकार है।

ऐसे हालत में जब सरकारी प्रवक्ता सांख्यवाहिनी के चमत्कारी नतीजे गिनाते हुए टेली-एग्रीकल्चर और टेली-मेडिसिन की लुभावनी तस्वीर पेश करने लगते हैं तो हाथ जूतों की ओर बढ़ने के लिए कुलबुलाने लगते हैं। जिस देश में प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र पर जीवनरक्षक दवायें तक नहीं होतीं और ज्यादातर में डाक्टर तक नहीं होते, वहां गोरखपुर के गांव के मरीज की एक्सरे प्लेट इंटरनेट के जरिए दिल्ली के अपोलो अस्पताल में देखकर इलाज बताने के सपने दिखाने वालों का यही इलाज हो सकता है।

सूचना उद्योग के अभूतपूर्व विकास ने दुनिया भर में साफ्टवेयर और हार्डवेयर की भारी मांग पैदा की है। हार्डवेयर के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को ताइवान, कोरिया और मलेशिया का सस्ता श्रम आसानी से उपलब्ध है जहां बेहद कम मजदूरी पर औरतें और बच्चे तक छोटी-छोटी इकाइयों में 14-14 घंटे माइक्रोचिप या रैम या मदरबोर्ड बनाने में जुटे रहते हैं। पर साफ्टवेयर के लिए उन्हें भारत से अच्छे और सस्ते मजदूर कहीं नहीं मिल सकते। तकनीकी रूप से कुशल और अंग्रेजी जानने वाले साफ्टवेयर कर्मियों की विशाल संख्या को बेहद सस्ती दरों पर मुहैया कराने में भारत ने फिलिप्पींस, चीन और पूर्वी यूरोप को भी पीछे छोड़ दिया है।

लेकिन सांख्यवाहिनी से भारत का साफ्टवेयर निर्यात अभी के एक-दो अरब से बढ़कर 50-100 अरब डालर हो जाने का ख्वाब देख रहे लोग भारी मुगालते में हैं। वास्तव में जो रोजगार बढ़ेगा वह होगा उन टाइपिस्टों और स्टेनोग्राफरों का जो इंटरनेट के जरिये अमरीका से आने वाली सामग्री को फिर से टाइप करके, प्रूफ पढ़कर वापस अमेरिका भेजा करेंगे। सभी भारतीयों को ब्रिटिश साहबों के 'बाबू' बना देने की मैकाले की योजना और इसमें कोई बुनियादी फर्क नहीं है।

औपनिवेशिक काल की शिक्षा क्लर्क पैदा करती थी जबकि आज के नव औपनिवेशिक युग में साइबर क्लर्क पैदा किये जा रहे हैं। अमरीका और स्विटरजरलैण्ड में एक साफ्टवेयर इंजीनियर का औसत वार्षिक वेतन क्रमश: 46500 डालर और 48800 डालर है जबकि भारत में यह मात्र 3600 डालर है।

भारत में कम्प्यूटर प्रतिभाओं के शोषण के लिए कम्पनियां नये-नये तरीके निकालती है। कई भारतीय कम्पनियां युवा प्रतिभाओं को स्थानीय दरों पर अपने यहां नियुक्त करती है। फिर ये विदेशी कम्पनियों से करार करके उन्हें काम करने बाहर भेज देती हैं जहां उन्हें केवल कुछ अतिरिक्त विदेश भत्ता दिया जाता है और भरपूर काम कराया जाता है। इनकी स्थिति ब्रिटिशकाल में गन्ने की खेती के लिए ले जाये जाने वाले भारतीय श्रमिकों से अलग नहीं है और ऐसी नौकरी की कोई गारंटी भी नहीं होती।

इंटरनेट के प्रसार के बाद एक अन्य तरीका प्रचलित हुआ है। इसमें विदेश भेजने की भी कोई जरूरत नहीं पड़ती। लोग भारत में ही रहकर विदेशी कम्पनियों के लिए कम्प्यूटर पर काम करते हैं और उन्हें भारतीय दरों पर वेतन दिया जाता है। इसका सबसे बड़ा उदाहरण मेडिकल ट्रांसक्रिप्शन का नया पेशा है जिसमें भारतीयों को 4-5 हजार रुपये देकर वह काम

(शेष पृष्ठ 25 पर)

सार्वजनिक क्षेत्र की घोषित हड़ताल वापस क्यों हुई?

■ आलोक रंजन

इस वर्ष 5 जुलाई को दिल्ली में **सार्वजनिक उपक्रमों की ट्रेड यूनियनों की समिति (सी.पी.एस.टी.यू.)** की एक बैठक में ''दूसरी पीढ़ी'' के आर्थिक सुधारों के प्रति गहरी चिन्ता प्रकट की गई और सरकार को चेतावनी देने के लिए 17 अगस्त से सभी सार्वजनिक उपक्रमों में तीन दिनों की देशव्यापी हड़ताल की घोषणा की गई। फिर हड़ताल से ठीक पांच दिन पहले, 12 अगस्त को सी.पी. एस.टी.यू. के नेताओं ने प्रधानमंत्री से उनके निवास पर बातचीत की और आनन-फानन में हड़ताल का फैसला वापस लेने की घोषणा कर दी गई।

प्रधानमंत्री से बातचीत के दौरान वित्तमंत्री, श्रममंत्री, विनिवेश राज्य मंत्री और योजना आयोग के अध्यक्ष भी मौजूद थे। दूसरी ओर **सी.पी. एस.टी.यू.** (इसमें **सीटू, एटक, एच.एम.एस.** और अन्य विभिन्न ट्रेड यूनियनों के नेता शामिल हैं) के नेताओं के अतिरिक्त कांग्रेस से जुड़ी **इण्टक** और भाजपा से जुड़े **भारतीय मजदूर संघ** के नेता भी मौजूद थे (इण्टक और बी. एम.एस., सी.पी.एस.टी.यू. के सदस्य नहीं हैं)।

महत्वपूर्ण (लेकिन आश्चर्यजनक नहीं) बात यह है कि यह महत्वपूर्ण देशव्यापी हड़ताल महज कुछ टालू आश्वासनों और चलताऊ बातों के आधार पर ही रद्द की दी गई। उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल का मजदूरों पर जो विनाशकारी प्रभाव पड़ रहा है, उसे कुछ कम तक करने का कोई ठोस आश्वासन प्रधानमंत्री और उनके सहयोगियों की ओर से नहीं मिला। प्रधानमंत्री ने सिर्फ यह कहा कि **यह सरकार मजदूर-विरोधी नहीं है** और यह कि **विनिवेश करते समय मजदूरों के हितों का ख्याल रखा जायेगा।** पिछले नौ माह के भीतर वाजपेयी सरकार ने ताबड़तोड़ भूमण्डलीकरण की नीतियों को लागू करके पूरी जनता, और विशेषकर शहरी-ग्रामीण मजदूर और गरीब आबादी, पर जो कहर बरपा किया है, उसके आंकड़ों-तथ्यों की चर्चा यही मजदूर नेता अपनी बैठकों में और लेखों-पर्चों-जनसभाओं में करते रहे हैं। जिन कारखानों में विनिवेश का फैसला लागू हुआ है, वहां मजदूरों के सिर पर छंटनी की तलवार अभी भी लटकी हुई है। फिर मजदूर नेताओं ने इतनी आसानी से प्रधानमंत्री की यह बात भला कैसे मान ली कि यह सरकार मजदूर-विरोधी नहीं है और विनिवेश करते समय वह मजदूरों के हितों का ख्याल रखेगी? प्रधानमंत्री और मजदूर नेता इस बात पर भी ''**सहमत**'' थे कि देश में ''**सौहार्दपूर्ण औद्योगिक माहौल**'' होना चाहिए। कोई भी मजदूर नेता भला इस बात पर कैसे सहमत हो सकता है कि औने-पौने दामों में जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े उद्योगों को पूंजीपतियों के हाथों में सौंपा जाता रहेगा, मजदूरों को सड़कों पर धकेला जाता रहेगा, एक-एक करके उनके अधिकार छिनते रहेंगे और फिर भी देश में ''सौहार्दपूर्ण औद्योगिक माहौल'' बना रहेगा! साफ शब्दों में कहना होगा कि केवल बिके हुए और गद्दार मजदूर नेता ही पूंजीवादी सरकार से (और वह भी ऐसी पूंजीवादी सरकार से!) इस बात पर सहमत हो सकते हैं।

कहां तो 5 जुलाई की अपनी बैठक में सी.पी.एस.टी.यू. नेता ये हवाई गोले छोड़ रहे थे कि यदि सरकार विनिवेश नीति को बदलेगी नहीं तो तीन दिनों की देशव्यापी हड़ताल के बाद आगे अनिश्चितकालीन हड़ताल भी की जायेगी। पर हुआ यह कि सरकार ने उनकी अदना से अदना मांग पर सोचने तक का आश्वासन नहीं दिया, लेकिन तीन दिनों की हड़ताल को ही वापस ले लिया गया।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर खुली आम सहमति पर पहुंची बुर्जुआ पार्टियों से सम्बद्ध ट्रेड यूनियन नेताओं से तो भ्रामक दिखावों और गीदड़भभकियों से अधिक शायद ही किसी को कुछ अपेक्षा है, पर चुनावी वामपंथी दलों से जुड़े मजदूर नेताओं ने भी एक बार फिर इस विश्वास को पुख्ता किया है कि वे अब पूरी तरह ''**झुण्ड में शामिल हो चुके हैं।**'' वैसे उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों पर अमल के विगत दस वर्षों के दौरान यह बात हर तरह से स्पष्ट हो चुकी है कि चुनावी वामपंथ, ट्रेड यूनियनवाद और अर्थवाद की धारा आज इतनी पतित और कमजोर हो चुकी है कि वह मजदूरों के आसन्न आर्थिक-राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ने की स्थिति में नहीं रह गई है। मजदूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन से मुंह मोड़ने और उसके राजनीतिक संघर्ष को तिलांजलि देने—या यूं कहें कि सर्वहारा क्रान्ति के लक्ष्य से च्युत होकर इसी व्यवस्था में सुधार, दबाव और रियायतों की मध्यवर्गीय राजनीति, वामपंथी जुमलों की छौंक-बघार के साथ, करने की तार्किक परिणति लगभग आधी सदी बीतते-बीतते इसी रूप में सामने आनी थी। यह अनायास नहीं था कि संसदीय सुअरबाड़े में धंसे और मजदूरों को मात्र आना-कौड़ी-पाई के लिए ही लड़ते रहने की शिक्षा देने वाले संशोधनवादियों को **लेनिन** ने बुर्जुआ जनवादी व्यवस्था की ''**दूसरी सुरक्षा पंक्ति**'' की संज्ञा दी थी। आज के दौर की विडम्बना यह है कि भूमण्डलीकरण के बारे में ''और कोई विकल्प नहीं'' की नीति अपनाने के बाद चुनावी वामपंथी दल बुर्जुआ व्यवस्था की दूसरी सुरक्षा-पंक्ति की भूमिका भी कारगर ढंग से नहीं निभा पा रहे हैं। कारण कि ''कल्याणकारी राज्य'' के जो कीन्सियाई नुस्खे और राजकीय इजारेदार पूंजीवाद (पब्लिक सेक्टर) का जो ढांचा चुनावी वामपंथियों को अपने नकली समाजवाद का मॉडल दिखाने-पेश करने के अवसर मुहैया कराते थे, वे आज विश्व पूंजीवाद की अपने बाध्यताकारी आन्तरिक दबावों और जरूरतों से टूट रहे हैं। पूंजी और श्रम एकदम आमने-सामने खड़े हैं। पूंजी और श्रम की राजनीति भी आमने-सामने खड़ी है। वामपंथी मुखौटों और भ्रमजालों के ज्यादा दिनों तक चल पाने की अब गुंजाइश ही नहीं रह गई है।

यही कारण है कि संशोधनवादी और सामाजिक जनवादी पार्टियों के नेता संसदीय विपक्ष की सीटों पर बैठकर या ट्रेड यूनियन के मंचों से, मजदूरों में अपना जनाधार और वोट बैंक बनाये रखने के लिए तो निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों का विरोध करते हैं, लेकिन जब सत्ता में होते हैं (चाहे राज्यों में, चाहे कुछ समय के लिए ही सही केन्द्र में, जैसे कि देवगौड़ा और गुजराल की अल्पजीवी गठबंधन सरकारों में) तो वे इन्हीं नीतियों को लागू करने के लिए बाध्य होते हैं। इस स्थिति में यह भी स्पष्ट हो

जाता है कि उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों का विरोध सिर्फ क्रान्तिकारी परिप्रेक्ष्य के साथ ही किया जा सकता है, क्योंकि इनके विकल्प की बात करना पूंजीवादी व्यवस्था के विकल्प की बात करना है।

स्थगित होने वाली तीन दिनों की देशव्यापी हड़ताल की घोषणा भी ट्रेड यूनियन नेताओं ने मजदूरों के भारी दबाव के चलते ही की थी। उनके सामने और कोई रास्ता नहीं था। उनका मुंह दिखाना मुश्किल था। क्रुद्ध-क्षुब्ध मजदूर हर जगह यह सवाल उठा रहे थे कि लगातार मजदूर हितों पर कुठाराघात के बावजूद वे लड़ क्यों नहीं रहे हैं। इसलिए कुछ गीदड़भभकी देना, कुछ हवाई गोले छोड़ना जरूरी था। लेकिन चूंकि ये मजूदर नेता अब रस्मी लड़ाइयों की भी ताकत खो चुके हैं, इसलिए इनकी गीदड़भभकियों की असलियत भी जल्दी ही सामने आ जानी थी। हड़ताल तो होनी नहीं थी, उसे किसी न किसी बहाने वापस ही लिया जाना था। यही कारण था कि हड़ताल के पांच दिनों पहले तक, दूर-दूर तक कहीं कोई तैयारी नजर नहीं आ रही थी। दिक्कत यह है कि धंधेबाज दलाल नेताओं को अब हड़ताल वापस लेने के लिए ठोस और ऊपरी तौर पर वाजिब दिखने वाले बहाने तक नहीं मिल रहे हैं। सत्ताधारियों के लिए भी ये गली के कुत्तों की तरह 'लतमरुआ' हो चुके हैं, इसीलिए वे इनकी इज्जत बचाने में रत्ती भर भी मदद नहीं करते। यही वजह है कि जिस दिन हड़ताल वापस लेने की घोषणा अखबारों में छपी, उसी दिन विनिवेश राज्य मंत्री अरुण शौरी का (और अगले दिन वित्त मंत्री का) यह बयान अखबारों में छपा कि विनिवेश के फैसले पर अमल पूर्ववत जारी रहेगा।

इसके एक माह के भीतर एयर इण्डिया, दूरसंचार उद्योग, हवाई अड्डों के रखरखाव आदि कई बुनियादी महत्व के क्षेत्रों के निजीकरण की घोषणा की गई, कई राज्यों में बिजली क्षेत्र को सौ प्रतिशत निजी निवेश तक के लिए खोल देने का भी फैसला लिया गया और सरकार ने यह साफ तौर पर कह दिया कि मुनाफे वाले सार्वजनिक उपक्रमों के शेयर भी देशी-विदेशी पूंजीपतियों को बेचे जायेंगे। इन सबके साथ सरकार ने तरह-तरह से यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मजदूरों के हितों की हिफाजत उसकी जिम्मेदारी नहीं है।

वैसे जहां तक संशोधनवादी मजदूर नेताओं की गद्दारी का सवाल है, वह तो नई आर्थिक नीतियों के विगत दस वर्षों के दौरान एकदम साफ हो चुकी है। सवाल यह है कि जब दस वर्षों पहले सरकार ने पूंजीवादी ''विकास'' (पढ़ें, विनाश) की यह नई दिशा अपनाई, तो इसके भीषण नतीजों से पूरे देश के सार्वजनिक और निजी उद्योगों के मजदूरों को शिक्षित और आगाह करते हुए उन्हें लम्बी और फैसलाकुन लड़ाई के लिए तैयार करने का काम क्यों नहीं शुरू किया गया? सारा विरोध वक्ती तौर पर की जाने वाली कुछ रस्मी कवायदों तक ही क्यों सीमित रहा? इस बीच बैंकों और बीमा के निजीकरण के रास्ते खोले गये, रेल के भी किश्तों में निजीकरण का रास्ता खोला गया, बिजली उद्योग को पूंजीपतियों के हाथों में सौंपने की शुरुआत हो गई, सरकार ने गैट समझौते पर हस्ताक्षर किये, आईएमएफ-विश्व बैंक नुस्खे के मुताबिक ढांचागत समायोजन के विभिन्न कदम उठाये गये, पांचवें वेतन आयोग की घोर मजदूर विरोधी सिफारिशें लागू हुईं, नई आयात नीति घोषित हुई, नई श्रम नीति लाने की घोषणा की गई, नई आर्थिक नीतियों पर अमल के परिणामस्वरूप करोड़ों गरीब और मध्यम किसान उजड़ गये, लाखों छोटे-बड़े उद्योग बन्द हो गये और करोड़ों मजदूर बेरोजगार हो गये, निजी क्षेत्र में बड़े पैमाने पर दिहाड़ीकरण और ठेकाकरण की नीतियां लागू हो गईं, स्वास्थ्य और शिक्षा के निजीकरण की प्रक्रिया लगातार जारी रही—लेकिन नकली वामपंथी नेता या तो कुम्भकर्णी नींद सोते रहे या फिर कुछ रस्मी कवायदें करते रहे। इस बीच केन्द्र में इन्होंने जिन दो अल्पजीवी सरकारों को समर्थन दिया, वे भी उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों को लागू करने में कांग्रेस या भाजपा से पीछे नहीं रहीं।

हालात ने आज मेहनतकश आबादी के सामने संशोधनवादी, ट्रेड यूनियनवादी और अर्थवादी राजनीति के शत्रु-सहयोगी, श्रम-विरोधी बुनियादी चरित्र को ज्यादा से ज्यादा साफ कर दिया है। अब यह राजनीतिक धारा मजदूरों को भ्रम में रखने का काम नहीं कर पा रही है। इसकी जगह यह दूसरा काम कर रही है। अब यह मजदूरों और पूरी मेहनतकश जनता में गहरा पराजय-बोध और निराशा भरने का काम कर रही है और प्रकारान्तर से यह विश्वास दिला रही है कि भूमण्डलीकरण का और कोई विकल्प नहीं है, और कोई चारा नहीं है। यदि विकल्प की बात वह करती भी है तो इसी व्यवस्था के दायरे के भीतर, जो कि संभव ही नहीं है। इससे जनता में और अधिक निराशा भरती है, क्योंकि नकली वामपंथी लगातार यह भी बताने की कोशिश करते हैं कि क्रान्तियां असफल सिद्ध हो चुकी हैं और क्रान्तिकारी समाजवादी परियोजनाओं का पुनर्जीवन अब संभव नहीं रह गया है।

बहरहाल, चूंकि जिन्दगी की सच्चाइयां इन दलीलों के पक्ष में गवाही देने को तैयार नहीं हैं, इसलिए इतना तय है कि व्यापक जनता में व्याप्त निराशा फौरी है और अन्ततोगत्वा इसे प्रचण्ड जनरोष के प्रस्फोट के रूप में सामने आना ही है। जिस तरह पूंजीपति वर्ग ने अपना अंतिम विकल्प चुन लिया है, उसी तरह सर्वहारा वर्ग को भी अपना अंतिम विकल्प चुनना होगा। यह बात आज बीसवीं सदी के प्रारम्भ से कहीं अधिक लागू होती है कि ''या तो **समाजवाद या फिर बर्बरता**''—मानवता के सामने सिर्फ ये ही दो विकल्प हैं।

भ्रष्ट ट्रेड यूनियन नौकरशाह नेतृत्व और संशोधनवादी राजनीति की असलियत मेहनतकश जनता के सामने आने के साथ ही क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय राजनीति की नई शुरुआत के लिए नया वस्तुगत आधार तेजी से तैयार हो रहा है। मगर केवल वस्तुगत आधार का होना ही पर्याप्त नहीं है। यदि क्रान्तिकारी वाम धारा अवसरवादी नेतृत्व से और प्रस्तरीकृत जड़सूत्रवादी मंत्र-जापों से पीछा छुड़ाकर सच्चे लेनिनवादी ढंग से मजदूर आन्दोलन में क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन का आधार क्षेत्र नहीं विस्तारित करेगी तथा साम्राज्यवाद-पूंजीवाद विरोधी नई समाजवादी क्रान्ति की रणनीति एवं आम रणकौशल विकसित नहीं करेगी और शहरी-ग्रामीण सर्वहारा-अर्द्धसर्वहारा आबादी के साथ गरीब एवं निम्न मध्यम किसानों व आम शहरी मध्य वर्गों का रणनीतिक वर्ग संश्रय निर्मित नहीं करेगी, तो महज अनुकूल परिस्थितियों या महज स्वयंस्फूर्त मजदूर-संघर्षों से इस व्यवस्था को ध्वस्त कदापि नहीं किया जा सकता।

क्रान्तिकारी वामपंथी धारा का पुनरुत्थान तभी हो सकता है जब वह यह जाने कि यदि जीतने के लिए लड़ना हो तो शुरुआत कहां से की जाये? उसे यह सीखना होगा और फिर मजदूर वर्ग को, व्यापक मेहनतकश जनता को, और उसकी सहयोगी मध्यवर्गीय जमातों को भी, यह सिखाना होगा। मजदूर वर्ग को संघर्ष और सीखने की लम्बी प्रक्रिया में यह विश्वास दिलाना होगा कि पूंजीवाद का कवच अभेद्य नहीं है। वह चमकीली पन्नी वाले कागज का है और उसकी तलवार गत्ते की है। उसका शरीर अंतकारी रोगों से कमजोर होता जा रहा है। मजदूर वर्ग को पराजय की मानसिकता से मुक्त करना होगा और एक लम्बे संघर्ष की बहुआयामी ठोस तैयारियों में जुट पड़ने के लिए तैयार करने में स्वयं जुट पड़ना होगा।

●

मानव का जीन मानचित्र (जेनोम) तैयार

पूंजीवादी समाज में विज्ञान की एकमात्र प्रेरक शक्ति मुनाफा ही है

l **सत्यम वर्मा**

पिछले 26 जून को वैज्ञानिकों ने घोषणा की कि उन्होंने मनुष्य की जीन संरचना के सम्पूर्ण मानचित्र का खाका तैयार कर लिया है। अतिरंजना में माहिर पश्चिमी मीडिया ने इसे फौरन मनुष्य के चांद पर कदम रखने या परमाणु विखण्डन जैसी महान वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक बताना शुरू कर दिया। कुछ रिपोर्टों में तो इसे पहिए के आविष्कार के बाद से अबतक की महानतम वैज्ञानिक खोज घोषित कर दिया गया।

आधुनिक विज्ञान एवं तकनोलाजी की इस उपलब्धि के साथ ही पूंजीवादी विश्व में विज्ञान पर कसे मुनाफाखोरी के शिकंजे की जो विकृत तस्वीर उभरी, उसके आगे मीडिया की यह अतिरंजना तो एक भोंड़ा मजाक भर है। वैसे इसके तार भी सीधे मुनाफे के कारोबार से जुड़े हुए हैं। जेनोम यानी 'जीवन की किताब' की खबरें आने के बाद कई बड़ी दवा कम्पनियों के शेयरों के भाव बढ़ गये थे। (हालांकि जब यह वास्तविकता सामने आई कि इस किताब के सूत्रों को मुनाफा बटोरने वाली चमत्कारी दवाओं में तब्दील करने में 10-15 वर्ष लग जायेंगे, तो भाव फिर नीचे आ गये।)

जीन मानचित्र का खाका तैयार कर लेना निश्चित रूप से एक बड़ी उपलब्धि है। लेकिन यह वैज्ञानिक खोज से अधिक उन्नत तकनोलाजी का कमाल है। दरअसल वैज्ञानिक काफी पहले से ही मनुष्य के डी एन ए के करीब एक लाख जीनों की पहचान करने और जीन मानचित्र के करीब 3.2 अरब अक्षरों के क्रम को पढ़ने में जुटे हुए थे। कम्प्यूटरों और रोबोटों की मदद से इस काम की रफ्तार बहुत तेज हो गई। पहले वैज्ञानिकों की टीम एक माह में जितने अक्षर पढ़ पाती थी, उससे सैकड़ों गुना ज्यादा अक्षर एक कम्प्यूटर एक दिन में पढ़ डालता है। अमरीका के नेतृत्व में दह देशों के सैकड़ों टेकनीशियनों और कुल 18 देशों की प्रयोगशालाओं में हाई स्पीड सीक्वेंसिंग मशीनों की मदद से डीएनए कोड का क्रम पढ़ना शुरू होने के बाद यह तय ही था कि कुछ वर्षों में यह काम पूरा हो जायेगा। इस परियोजना को 2003 तक पूरा होना था तथा 2001 के मध्य तक जेनोम का खाका तैयार कर लेने का लक्ष्य था। इसी बीच डा. क्रेग वेंटर नाम के एक वैज्ञानिक ने अप्रैल 2000 में घोषणा की कि उसकी कम्पनी सेलेरा जेनोमिक्स ने सीक्वेंसिंग का काम पूरा कर लिया है और छह सप्ताह में वह जेनोम का खाका पेश कर देगी। वेंटर ने हाई स्पीड सीक्वेंसिंग मशीनें बनाने वाली कम्पनी पर्किन एल्मर बायोसिस्टम्स के साथ मिलकर सितम्बर 1999 में अपनी कम्पनी बनायी थी। जहां सरकारी मानव जेनोम परियोजना अपने डाटा को खुले तौर पर प्रस्तुत कर रही थी, वहीं सेलेरा इसका वादा करने के बावजूद सारा डाटा दबाये बैठी थी। यूरोप और अमरीका की कई और निजी कम्पनियां भी सबसे पहले जेनोम का खाका तैयार कर लेने की होड़ में थीं। सबसे पहले पहुंचने की इस होड़ की एकमात्र प्रेरक शक्ति थी मुनाफा।

पूंजीवादी समाज में ही यह संभव है कि जीवन की किताब को पढ़ने के पीछे मानवीय जीवन को ज्यादा बेहतर और ज्यादा सुरक्षित बनाने के बजाय वाणिज्यिक हित मुख्य चालक शक्ति रहे हैं। जेनोम का पहला खाका तैयार होने की घोषणा के साथ ही इसके वाणिज्यिक लाभों का हिसाब-किताब शुरू हो गया और दवा तथा वैज्ञानिक उपकरण कम्पनियों में इसके व्यावसायिक दोहन के लिए जबर्दस्त होड़ शुरू हो गयी है। पूरी मानवता की बेहतरी के लिए इसके महत्व की चर्चा भी विशुद्ध वाणिज्यिक दायरे में ही हो रही है।

दैत्याकार बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनी स्मिथक्लाइन बीचम के एक वरिष्ठ अधिकारी ने तो कुछ दुखी अंदाज में कहा कि जेनोम सम्बन्धी सूचना बहुत उपयोगी और दिलचस्प हो सकती है लेकिन हमारे लिए अभी इसका वाणिज्यिक मूल्य ज्यादा नहीं है। उन्हें इस बात का अफसोस है कि तत्काल मुनाफा पीटना शुरू कर देने के बजाय अगले 10-15 वर्षों तक दवा कम्पनियों को शोध एवं विकास के कामों पर और निवेश करना पड़ेगा।

जेनोम सम्बन्धी डाटा को सार्वजनिक करने के मुद्दे पर सरकारी परियोजना सफल जरूर रही है, लेकिन यह तय है कि अंततः इस जानकारी के इस्तेमाल को बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही नियंत्रित करेंगी और मुनाफे के कारोबार से इतर इसका इंसानियत की आम भलाई के लिए कोई प्रयोग हो पायेगा, इसकी सम्भावना कम ही है। अतीत में भी हमेशा ही ऐसा होता रहा है। सार्वजनिक धन के अरबों-अरब डालर खर्च करके की गई खोजों से निजी कम्पनियां मुनाफा कमाती रही हैं और पेटेंटों के जरिए विज्ञान के और आगे विकास पर तरह-तरह की बंदिशें लगाती रही हैं। जहां विज्ञान की एकमात्र प्रेरक शक्ति मुनाफा हो जाएगी वहां इसके अलावा और कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है।

आज विज्ञान और उससे भी बढ़कर तकनोलाजी निजी सन्तोष और लाभ के लिए तथा बाजार की ''अदृश्य'' शक्तियों की अनियंत्रित ढंग से घटती-बढ़ती मांग पर काम करने वाले व्यक्तियों के छोटे से समूह का सरोकार नहीं हो सकता। आज यह विशाल और शक्तिशाली संस्थाओं और सरकारों की योजनाबद्ध गतिविधियां हैं जिसकी वित्तीय आवश्यकताएं पूरे समाज के साधनों को प्रयोग में लाये बिना नहीं की जा सकती।

विज्ञान और तकनोलाजी विकृत नियोजन और नियंत्रण के शिकार हुए हैं। वे इजारेदारियों के हाथों उपकरण बन गये हैं। इनका मकसद लोगों के लिए खुशियां लाना नहीं बल्कि इजारेदार पूंजीपति के लिए और अधिक पैसा और अधिक शक्ति और अधिक नियंत्रण लाना बन गया है।

आज बीसियों ऐसे उदाहरण मालूम हैं जब तकनोलाजी सम्बन्धी महती आविष्कारों को सक्रिय रूप से हतोत्साहित किया गया है। प्रायः किसी नये अविष्कार के पेटेंट किसी

एकाधिकारी घराने द्वारा उत्पादन में लगाने के लिए नहीं खरीदे जाते बल्कि इन्हें उठाकर ताक पर रख दिया जाता है ताकि दूसरे इनका प्रयोग न कर सकें क्योंकि एकाधिकार की पद्धतियों द्वारा महत्तम मुनाफे की दर पहले ही सुनिश्चित कर ली जाती है। अंकटाड की एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व के कुल पेटेंटों में से 90 प्रतिशत से ज्यादा बहुराष्ट्रीय निगमों के कब्जे में पड़े हैं।

जेनोम की खोज एक दूरगामी उपलब्धि है जिसकी मदद से आने वाले वर्षों में दुनिया से अनेक रोगों का नाश किया जा सकता है, महंगी दवाओं के चंगुल से लोगों को निकालकर रोग के मूल कारणों की पहचान कर सस्ता इलाज ढंढ़ा जा सकता है और इंसानियत को एक बेहतर, सुरक्षित भविष्य की ओर ले जाया जा सकता है। लेकिन पूंजीवादी समाज में ज्यादा सम्भावना इस बात की है कि इस खोज से बड़े पैमाने पर गरीबों को ग्रसने वाली बीमारियों का सस्ता इलाज ढूंढ़ने की बजाय अमीरों के लिए बुढ़ापा रोकने, सुंदरता बढ़ाने, पर्सनलाइज़्ड दवाएं तैयार करने या फिर डिजाइनर बच्चे पैदा करने जैसे बेहूदे कामों तक ही इसे लगाया जायेगा। आम आदमी को इसका लाभ मिलने में कई दशक लग जाएंगे।

सांख्य वाहिनी...

(पृष्ठ 21 का शेष)

कराया जा रहा है जिसके लिए अमरीका और यूरोप में 15 गुना अधिक खर्च आता।

मौलिक साफ्टवेयर निर्माण को और आगे ले जाने के लिए जिस स्तर की उच्च शिक्षा प्राप्त जनशक्ति की जरूरत होगी वह भारत में नहीं है। भारत में कम्प्यूटर शिक्षा का ढांचा ही मौलिक अनुसंधान के अनुकूल नहीं है। कम्प्यूटर साइंस और संबंधित विषयों में भारत में प्रतिवर्ष 15000 स्नातक निकलते हैं, जो अमरीका के बराबर हैं। लेकिन एम.टेक स्तर पर पहुंचते ही हम बहुत पीछे छूट जाते हैं। अमरीका में प्रतिवर्ष 4000 विद्यार्थी एम.टेक में जाते हैं जबकि भारत में यह संख्या सिर्फ 250 है। पीएच.डी तक आते-आते तो दोनों देशों में 30 गुना का अंतर हो जाता है। अमरीका में 600 कम्प्यूटर छात्र शोधकार्य में लगते हैं जबकि यहां सिर्फ 20 विद्यार्थी इसे अपनाते हैं।

सांख्यवाहिनी में अमेरिकी रुचि को समझने के लिए उपराष्ट्रपति अल गोरे के पिछले वर्ष के शब्दों को याद कर लेना जरूरी है। 'ग्लोबल इन्फार्मेशन इंफ्रास्ट्रक्चर' (जी. आई.आई)—जो कई संचार नेटवर्कों से मिलकर बना एक विराट नेटवर्क होगा—का खाका पेश करते हुए अल गोरे ने फरमाया कि जी. आई.आई दुनिया भर में लोगों के रहने, सोचने और संचार के तौर-तरीकों को हमेशा के लिए बदल देगा। ''विकसित और विकासशील देशों ने इस बात पर आम सहमति कायम कर ली है कि सर्वश्रेष्ठ सूचना नेटवर्क पांच उसूलों पर आधारित होगा—निजी पूंजी निवेश, प्रतिस्पर्द्धा, लचीले कानून, खुली पहुंच और सार्वभौमिक सेवा।''

जाहिर है कि सांख्यवाहिनी को अंततः जी.आई.आई का ही एक भाग बनना होगा जिस पर पूरी तरह अमेरिकी प्रतिष्ठान का नियंत्रण होगा। खुली स्पर्द्धा जैसी कोई चीज आज नहीं रह गई है, यह डब्ल्यू टी ओ के अनुभव से साफ है। अमेरिका और बड़े देश वैश्विक लूटतंत्र में अपने जूनियर पार्टनरों की बांह मरोड़कर लचीले कानूनों को मनमुआफिक ढालकर कमजोर देशों के बौद्धिक और सूचना संसाधनों तक खुली पहुंच बनायेंगे। जिस तरह ब्रिटिश हुकूमत ने यहां से भौतिक सम्पदा को ढो-ढोकर ले जाने के लिए रेलवे का विकास किया, सांख्यवाहिनी बौद्धिक संसाधनों की वैसी ही लूट का माध्यम बनेगी।

लेखक पंतनगर विश्वविद्यालय में कम्प्यूटर साइंस के प्रवक्ता हैं

अनुराग
बाल पत्रिका

भूत-प्रेत, अंधविश्वासों, राजा-रानियों के किस्सों और जासूसी कामिक्स की दुनिया से बाहर की असली दुनिया से परिचित कराने और उसे खूबसुरत बनाने का अहसास बच्चों तक पहुंचाने में लगी उनकी अपनी पत्रिका

सम्पादक : **कमला पाण्डेय**
सह सम्पादक : **अभिनव सिन्हा**
पता : **डी-68, निरालानगर, लखनऊ**
एक प्रति : 10 रु., वार्षिक : 40 रु.

विश्व पटल पर

मेक्सिको : सत्ता परिवर्तन के निहितार्थ

■ **आदेश कुमार**

विगत 2 जुलाई को मेक्सिको के राष्ट्रपति पद के लिए हुए चुनाव में 71 वर्षों से सत्तारूढ़ **'इंस्टीट्यूशनल रिवोल्यूशनरी पार्टी'** (पी.आर.आई.) के उम्मीदवार की भारी पराजय हुई। **'नेशनल ऐक्शन पार्टी'** (पी.ए.एन.) के उम्मीदवार **विंसेण्ट फॉक्स क्वेसादा** ने पी.आर.आई. के उम्मीदवार **फ्रांसिस्को लाबास्तिदा ओचोआ** को भारी बहुमत से पराजित किया। **'पार्टी ऑफ द डेमोक्रेटिक रिवोल्यूशन'** (पी.आर.डी.) का उम्मीदवार काफी नीचे, तीसरे स्थान पर रहा।

पी.आर.आई. हुकूमत चुनावी धोखाधड़ी और घोटालों-भ्रष्टाचार के लिए विश्व-कुख्यात रही है। सत्तर वर्षों से कायम उसकी हुकूमत को, अधिकांश लोग मेक्सिको की दुरवस्था का पर्याय मानते रहे हैं और यह धारणा, विशेषकर वहां के मध्य वर्ग में, काफी बलवती रही है कि ''स्वच्छ और निष्पक्ष'' चुनाव के द्वारा पी.आर.आई. को सत्ताच्युत कर देना राष्ट्रीय समस्याओं का एकमात्र समाधान है। यहां तक कि सामाजिक जनवादी पार्टी पी.आर.डी. के सदस्यों और मेक्सिको के चुनावी ''वामपंथियों'' की एक काफी बड़ी संख्या भी फॉक्स के चुनावी अभियान में यह तर्क देते हुए शामिल हो गई थी कि फिलहाल सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य है भ्रष्ट पी.आर.आई. को पराजित करना और इसके लिए दक्षिणपंथी पी.ए.एन. के साथ एकजुट हो जाना जरूरी है।

बहरहाल, पी.आर.आई. की चुनावी पराजय हो चुकी है। कुख्यात **अर्नेस्टो जेडिल्लो** राष्ट्रपति पद से इस्तीफा दे चुका है और फॉक्स को सत्ता सम्हाले लगभग तीन माह का समय बीत चुका है। क्या मेक्सिको के, पहले से अलग किसी रास्ते पर चल पड़ने की कोई सम्भावना नजर आ रही है? क्या नई सरकार मेक्सिकी अर्थव्यवस्था के पुराने रोगों के इलाज का कोई नया नुस्खा पेश कर रही है?

अभी तक ऐसे कोई भी संकेत नजर नहीं आ रहे हैं। और सच पूछें तो विंसेण्ट फॉक्स ने ऐसा कोई वायदा भी नहीं किया था। फॉक्स के चुनावी अभियान का केन्द्रीय नारा था—''बदलाव'' और ''भ्रष्टाचार का खात्मा।'' जेडिल्लो के नेतृत्व वाली पी.आर.आई. हुकूमत से फॉक्स के नेतृत्व वाली पी.ए.एन. हुकूमत की नीतियां किसी भी मायने में अलग नहीं हैं।

हालात ने साफ कर दिया है कि फॉक्स का चुनाव मेक्सिको में लागू आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियों में कोई बुनियादी बदलाव नहीं लाने वाला है। वास्तव में यह वहां के शासक पूंजीपतियों और पूंजीवादी फार्मरों की तथा साम्राज्यवादियों द्वारा, लगातार फैलते जनान्दोलनों को रोकने, सरकार की बुरी तरह क्षतिग्रस्त छवि को सुधारने और अपने शासन को स्थिर बनाने की एक और कोशिश से अधिक कुछ भी नहीं है।

यह अनायास नहीं है कि मेक्सिको और अमेरिका के लगभग सभी बुर्जुआ अखबारों ने अपने मुखपृष्ठ पर बड़े-बड़े शीर्षक लगाकर चुनावी नतीजों को **''ऐतिहासिक''** और **''लोकतंत्र की महान शुरुआत''** घोषित किया था। पी.ए.एन. का प्रोग्राम भी धुर-दक्षिणपंथी है। यह पार्टी भ्रष्टाचार समाप्त करने के नारे के अतिरिक्त अन्य किसी भी मामले में पी.आर.आई. की नीतियों से अलग कोई नीति नहीं रखती। इस सन्दर्भ में यह जानकारी भी महत्वपूर्ण है कि यह विंसेण्ट फॉक्स है कौन और इसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि क्या है? यह **कोकाकोला** कम्पनी की मेक्सिको शाखा का भूतपूर्व अध्यक्ष है।

हालात ने स्पष्ट कर दिया है कि पी.आर.आई. के आइवी-लीग प्रशिक्षित 'टेक्नोक्रैट्स', या कोकाकोला राष्ट्रपति, या फिर छद्म वामपंथी-सामाजिक जनवादी ''विकल्प''—मौजूदा फ्रेमवर्क में मेक्सिको की जनता के सामने यही तीन ''जनवादी'' विकल्प हैं। बेशक चुनाव के नतीजे पी.आर.आई. के चरम भ्रष्ट और दमनकारी शासन के विरुद्ध जनता की नफरत की एक अभिव्यक्ति है, लेकिन यह भी तय है कि यह अभिव्यक्ति जबतक संसदीय व्यवस्था के दायरे तक सीमित रहेगी, तबतक मेक्सिको की जनता की बुनियादी समस्याओं का कोई समाधान नहीं हो सकता। समाधान की सही दिशा के संकेत भी इधर-उधर से मिल रहे हैं—चाहे वह लाख दमन के बावजूद पेरू में जारी माओवादियों का सशस्त्र मुक्ति-संघर्ष हो, या फिर कोलम्बिया का छापामार युद्ध, या फिर मेक्सिको में ही विगत छः वर्षों से जारी जपाटिस्ट किसान-संघर्ष! इतना तय है कि अमेरिका के ऐन पिछवाड़े की जनता आज अपनी मुक्ति से जुड़े बुनियादी सवालों के जवाब, एक बार फिर, बहुत अधिक शिद्दत के साथ संसदीय राजनीति के दायरे के बाहर ढूंढ़ने लगी है। लेकिन फिलहाल मेक्सिको में जो हुआ है, वह बुर्जुआ चुनावों के बारे में **मार्क्स** की इस उक्ति को ही चरितार्थ करता है कि यह एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा हर कुछ वर्षों के बाद जनता को यह तय करने दिया जाता है कि शासक वर्ग का कौन सा सदस्य या पार्टी अब उसे (जनता को) उत्पीड़ित करने और ठगने का काम करे!

मेक्सिको का संकट और शासक वर्ग द्वारा प्रस्तुत समाधान

अभी छः वर्षों पहले तक मेक्सिको के शासक वर्ग और उनके संरक्षक-अभिभावक अमेरिकी साम्राज्यवादियों का मानना था कि पी.आर.आई. की एकाधिकारी हुकूमत ही सबसे अच्छी तरह से उनके हितों की सेवा करती है। मेक्सिको में ''स्थायित्व'' बनाये रखने का उसे श्रेय प्राप्त था। इसके शीर्षस्थ नेता सीधे अमेरिकी कम्पनियों के हितों की सेवा करते थे और साथ ही घूस और कमीशन के अकूत धन से खुद भी मालामाल होते थे। कहने को तो उनकी सरकार जनतांत्रिक हुआ करती थी पर जनता पर उनका सख्त ''नियंत्रण'' कायम रहता था।

पर विगत कुछ वर्षों के दौरान पी.आर.आई. हुकूमत की शक्ति और स्थायित्व का मिथक ध्वस्त होने लगा था। 1994 में **'नाफ्टा'** संधि लागू होने के साथ ही चियापास प्रान्त में **ई.जेड.एल.एन.** के नेतृत्व में सशस्त्र किसान विद्रोह फूट पड़ा और पूरी दुनिया के सामने यह बात आ गई कि जिस देश को

भूमण्डलीकरण की नीतियों पर अमल के मॉडल के रूप में पेश किया जाता रहा है, वहां की तबाह-बर्बाद जनता ने उसे सिरे से खारिज कर दिया है। धीरे-धीरे छंटनी, दिहाड़ी और ठेका प्रथा के विरुद्ध यहां-वहां मजदूरों के आन्दोलन भी भड़कने लगे। पी.आर.आई. के लिए निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को, बिना किसी जनउभार के खतरे के, लागू कर पाना असम्भव-सा होता चला गया। पिछले वर्ष जब पी.आर.आई. ने **'नेशनल ऑटोनॉमस युनिवर्सिटी आफ मेक्सिको'** (युनाम) के निजीकरण के लिए कदम उठाये तो वहां अभूतपूर्व छात्र-हड़ताल भड़क उठी, जो नौ माह तक चलती रही। 'युनाम' के 2,70,000 छात्रों ने विश्वविद्यालय भवन पर नौ माह तक अपना कब्जा बनाये रखा। ट्रेड यूनियनों ने, आम नागरिकों ने और जपाटिस्टा किसान विद्रोहियों ने भी उन्हें व्यापक समर्थन दिया। अन्ततोगत्वा, इस वर्ष फरवरी माह में नवगठित '*आतंकवाद निरोधक केन्द्रीय पुलिस बल*' के सशस्त्र दस्तों ने पूरे परिसर पर घेरेबन्दी करके हमला बोल दिया। व्यापक दमन और गिरफ्तारियों के बाद कैम्पस पर सरकारी नियंत्रण स्थापित हो पाया। लेकिन शिक्षा के निजीकरण की नीतियों के विरुद्ध पूरे देश के छात्र अभी भी बगावती मूड में हैं और व्यापक आन्दोलन फिर से भड़क उठने की सम्भावनाएं अभी भी बरकरार हैं।

व्यवस्था के संकटों और जनान्दोलनों के दबाव के चलते मेक्सिको की सत्ता-संरचना में अन्तरविरोधों-विग्रहों की दरारें पहले भी उभरती रहती थीं, पर साम्राज्यवादी मध्यस्थता में उनकी मरम्मत का काम अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण ढंग से हो जाया करता था। कुछ वर्षों पहले यह व्यवस्था ध्वस्त होने लगी। लुटेरों के आपसी झगड़े असमाधेय हो गये। 1994 में, (जिस वर्ष जपाटिस्टा किसान विद्रोह की शुरुआत हुई थी) पिछले राष्ट्रपति चुनाव के अभियान के दौरान पी.आर.आई. के उम्मीदवार की हत्या कर दी गई और फिर कुछ माह बाद पार्टी-अध्यक्ष की भी हत्या हो गई। इनके पीछे और कुछ और अपराधों के पीछे, जब निवर्तमान राष्ट्रपति **कार्लोस सैलिनास** का हाथ होने का आरोप लगाया गया तो वह देश छोड़कर भाग गया। सैलिनास के बाद अर्नेस्टो जेडिल्लो मेक्सिको का राष्ट्रपति बना। उसके सत्तारूढ़ होते ही मेक्सिको गम्भीर आर्थिक संकट के भंवर में जा फंसा। *पेसो* (मेक्सिको की मुद्रा) का मूल्य घटाकर आधा कर देने के लिए सरकार को मजबूर होना पड़ा। इससे न सिर्फ गरीबों-मेहनतकशों का जीना मुहाल हो गया, बल्कि मध्यवर्ग के लोगों के भी दिवालिया हो जाने की लहर सी चल पड़ी। इस संकट का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा और अमेरिकी साम्राज्यवादियों ने भी इससे गम्भीर खतरा महसूस किया। मेक्सिको के ''उद्धार'' के लिए, या यूं कहें कि अमेरिकी साम्राज्यवादी हितों की सुरक्षा के लिए क्लिण्टन प्रशासन ने कई अरब डालर के राहत-पैकेज की घोषणा की। लेकिन इस पैकेज की शर्त के तौर पर, अमेरिकी सरकार कीऱ्औरऔर साथ ही विश्व बैंक तथा अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की भी मांग थी कि जेडिल्लो शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के सरकारी खर्चों के मदों में जबर्दस्त कटौती और रेल, पेट्रोकेमिकल्स, बिजली उद्योग तथा सार्वजनिक विश्वविद्यालय शिक्षा के निजीकरण का वायदा करे।

इन कदमों के उठाये जाने के साथ ही पूरे देश में व्यापक विरोध की आग भड़क उठी। पी.आर.आई. हुकूमत के प्रति पहले से ही मौजूद घृणा चरम तक जा पहुंची। इसे देखते हुए मेक्सिको के बड़े पूंजीपतियों और फार्मरों ने और उनके 'गॉडफादर' साम्राज्यवादियों ने सरकार के चेहरे पर नये रंग-रोगन की जरूरत महसूस की। पिछले लम्बे अरसे से चुनावों के दौरान यही होता आया था कि वोटों के खरीदने के लिए और मीडिया तक विरोधियों की पहुंच रोकने के लिए पी.आर.आई. सत्ता पर अपने एकाधिकार का भरपूर इस्तेमाल करती थी। इस बार जेडिल्लो ने स्वयं चुनाव-सुधारों के लिए पहल की और 2 जुलाई के चुनावों के लिए एक ''स्वतंत्र'' चुनाव एजेन्सी के गठन की घोषणा भी की। विंसेण्ट फॉक्स ने अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिण्टन के भूतपूर्व शीर्षस्थ सलाहकार **डिक मॉरिस** की मदद से अपने मीडिया-अभियान की शुरुआत एकदम अमेरिकी शैली में की।

बुर्जुआ मीडिया, पूंजीवादी निवेशक और अन्य विविध एजेंसियां लगातार यह चेतावनी दे रही थीं कि सबसे बुरा नतीजा यह होगा कि बहुत कम मतों के अन्तर से पी.आर.आई. उम्मीदवार लाबास्तिदा जीत जाये। उन्हें डर था कि पी.आर.आई. की जीत को मेक्सिको की जनता चुनावी धोखाधड़ी के रूप में ही देखेगी और तब देशव्यापी जनरोष भी फूट सकता है। पी.आर.आई. इस बार धांधली न कर सके, इसके लिए '*इलेक्शन मॉनिटर्स*' की एक अन्तरराष्ट्रीय टीम भी भेजी गयी जिसमें भूतपूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति **जिमी कार्टर** भी शामिल थे।

विंसेण्ट फॉक्स की जीत होते ही **वाल स्ट्रीट** के निवेशकों और विश्लेषकों ने मेक्सिकी अर्थव्यवस्था के ''शुभदिनों'' की भविष्यवाणी शुरू कर दी। मेक्सिको के बिजनेस एक्जीक्यूटिव्स की संस्था '*कॉपरमेक्स*' के अध्यक्ष ने कहा कि शांतिपूर्ण चुनावी संक्रमण इस बात का संकेत है कि मेक्सिको ''*बनाना रिपब्लिक नहीं है बल्कि एक संजीदा मुल्क है।*'' '**न्यूयार्क टाइम्स**' और दूसरे बुर्जुआ भोंपुओं ने ''*राजनीतिज्ञों जैसा*'' व्यवहार करने के लिए जेडिल्लो की सराहना की।

बुर्जुआ प्रवक्ता कह रहे हैं कि फॉक्स का चुनाव जनता की ''आवाज'' है। तब तो यह मानना पड़ेगा कि अमेरिकी और मेक्सिकी कारपोरेट जगत और जनता के हित एक हैं और मेक्सिकी जनता के शोषण-उत्पीड़न, मंहगाई-बेरोजगारी, भ्रष्टाचार आदि के लिए देशी-विदेशी पूंजीपति और फार्मर कतई नहीं दोषी हैं, क्योंकि वे जनता की ''आवाज'' पर खुशियां मनाते हैं! कौन गधा इसे सच मानेगा? सच तो यह है कि बात चाहे भारत की हो या मेक्सिको की, **संसदीय चुनाव या पूरी की पूरी बुर्जुआ जनवादी प्रक्रिया हर हाल में एक धोखाधड़ी है। इसके द्वारा कोई भी उत्पीड़क व्यवस्था न तो न्यायपूर्ण व्यवस्था में बदल सकती है और न ही सच्चे जनप्रतिनिधियों के हाथों में सत्ता ही आ सकती है। चुनाव केवल पूंजीवादी व्यवस्था को वैधता का जामा पहनाने का काम करते हैं, पूंजीपतियों के शोषण और उनकी राजनीतिक सत्ता के रिश्तों पर पर्दा डालने का काम करते हैं, तथा जन समुदाय की राजनीतिक सक्रियता को नियंत्रित करने, परिसीमित करने और अभीष्ट दिशा में निर्देशित करने का काम करते हैं।**

विंसेण्ट फॉक्स का ''लोकप्रिय'' चुनाव इसी ऐतिहासिक सच्चाई का एक और ताजा प्रमाण है।

पी.ए.एन. की जन्मपत्री और फॉक्स का असली चेहरा

विंसेण्ट फॉक्स की पार्टी पी.ए.एन. का गठन 1939 में मेक्सिकी सत्ता तंत्र की दक्षिणपंथी ताकतों ने किया था। ये वे ताकतें थीं जिन्होंने स्पेन में जनरल **फ्रांको** की फासिस्ट हुकूमत का समर्थन किया था। पी.ए.एन. का कैथोलिक चर्च के साथ लगातार निकट सम्बन्ध रहा है।

गत कुछ वर्षों के दौरान, कुछ उत्तरी और केन्द्रीय प्रान्तों में सत्ता हासिल करने के बाद पी.ए.एन. सबसे बड़ी विपक्षी बुर्जुआ पार्टी के रूप में उभरी। कोकाकोला कम्पनी की मेक्सिको शाखा के भूतपूर्व अध्यक्ष फॉक्स ने

अपने राजनीतिक जीवन की शुरुआत पी.ए.एन. से की। राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार बनने से पहले वह गुआनाजुआतो प्रान्त का गवर्नर था।

गवर्नर के रूप में काम करते हुए उसने जनता की कोई समस्या हल नहीं की। उसका दावा था कि देश में सबसे निम्न बेरोजगारी-दर उसी के प्रान्त में थी। सच्चाई यह है कि गुआना जुआतो की आधी काम करने वाली आबादीख़ तकरीबन 15 लाख लोग काम की तलाश में वैध-अवैध आप्रवासी के रूप में अमेरिका जाने को मजबूर रहे हैं। फॉक्स के ''सुधार'' कार्यक्रमों में से एक था—अमेरिका में माली का काम करने के लिए मेक्सिकी मजदूरों को प्रशिक्षित करना!

फॉक्स एक ओर स्त्रियों के लिए ज्यादा अधिकारों का वायदा करता है, लेकिन दूसरी ओर वह हर हाल में गर्भपात पर पूर्ण प्रतिबंध की बात करता है और 'मिनी स्कर्ट' जैसी पोशाकों की तीखी आलोचना करता है। उसकी पूरी शैली फासिस्ट नेताओं जैसी लोकरंजक आक्रामकता लिये हुए है, जो मध्यवर्गीय निराश युवाओं को अपनी ओर आकृष्ट करती है और अनुदारवादियों को भी खूब भाती है।

सत्तारूढ़ होते ही फॉक्स ने बुनियादी नीतियों के बारे में अपनी पोजीशन एकदम साफ कर दी है। खासतौर पर, उसने 'नाफ्टा' के जरिये साम्राज्यवादी पैठ के लिए मेक्सिको को और अधिक ''खोलने'' की जोरदार वकालत की है और कहा है कि अमेरिका से लगे देश के उत्तरी सीमा क्षेत्र का ''*माकीलाडोराकरण*'' पूर्ववत जारी रहेगा। **माकीलाडोरा फैक्टरी** विदेशी स्वामित्व वाले उन कारखानों को कहते हैं, जिनका एक हिस्सा मेक्सिको की सीमा में होता है, जहां श्रमिकों से लिये जाने वाले काम होते हैं। दूसरा हिस्सा अमेरिका में होता है जहां प्रबन्धन सम्बन्धी व अन्य उच्च तकनोलाजी वाले काम होते हैं। इस उपाय से विदेशी पूंजीपति अत्यन्त सस्ती दरों पर मेक्सिको की श्रम शक्ति को निचोड़कर विश्व बाजार के लिए माल तैयार करते हैं और अतिलाभ कमाते हैं।

फॉक्स ने स्पष्टत: कहा है कि वह पी. आर.आई. शासन की आर्थिक नीतियों की दिशा और फ्रेमवर्क को बनाये रखेगा। उसने नाफ्टा संधि को और आगे ले जाते हुए अमेरिका और कनाडा की साम्राज्यवादी अर्थव्यवस्था के साथ मेक्सिको को और अधिक घनिष्ठ रूप से जोड़ देने की घोषणा की है। राष्ट्रीय तेल उद्योग '*पेमेक्स*' को निजी निवेशकों के हाथों बेचने के लिए उसने बातचीत करनी भी शुरू कर दी है।

फॉक्स ने वायदा किया है कि अगला सरकारी बजट बनाने में वह निवर्तमान राष्ट्रपति जेडिल्लो से पूरा सहयोग लेगा। 'लॉस एंजिल्स टाइम्स' के अनुसार, अमेरिकी निवेशक इस बात से काफी खुश हैं कि फॉक्स उन अमेरिका प्रशिक्षित आर्थिक 'टेक्नोक्रैट्स' को भाड़े पर रखने के लिए ख्वाहिशमन्द है, जो जेडिल्लो प्रशासन के भी हिस्से थे। विश्व बैंक का एक भूतपूर्व अधिकारी फॉक्स का शीर्षस्थ आर्थिक सलाहकार है।

नाफ्टा, माकीलाडोरा फैक्ट्रियां और जनता की तबाही के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप

फॉक्स द्वारा जेडिल्लो सरकार की बुनियादी नीतियों को जारी रखने का मतलब है कि मेक्सिकी समाज के संकट की असाध्य और विस्फोटक होते जाने की दिशा में यात्रा जारी रहेगी।

मेक्सिकी अर्थव्यवस्था आज विश्वबैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के कर्जों के रूप में पूंजी के ''इंजेक्शनों'' पर अत्यधिक निर्भर है। ये साम्राज्यवादी संस्थाएं मेक्सिकी सरकार पर एक के बाद एक नई-नई शर्तें थोपती रहती हैं। मेहनतकशों की तबाही, धनी-गरीब के बीच अपूर्व रफ्तार से बढ़ती खाई, जपाटिस्टा विद्रोह और व्यापक छात्र-उभार को देखते हुए, साम्राज्यवादियों और पूंजीपतियों के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण बात है कि वहां ''जनतांत्रिक संक्रमण'' शान्तिपूर्ण और व्यवस्थित ढंग से सम्पन्न हो गया है। **इसके लिए विश्व बैंक ने मेक्सिको को 24 अरब डालर का नया ऋण दिया है। और हाल ही में मुद्राकोष ने भी यह घोषणा की है कि वह मेक्सिको को पन्द्रह खरब डालर का ऋण देगा। इस विराट ऋण राशि को हासिल करने की शर्त यह है कि मेक्सिको सरकार राज्य-नियंत्रित बुनियादी उद्योगों को बेचने का या निजीकरण करने का काम जारी रखे।** निजीकरण की प्रक्रिया में ढिलाई आते ही ऋण की किश्तों को मुद्रा कोष द्वारा रोक लिया जायेगा।

अमेरिकी मीडिया में मेक्सिको की अर्थव्यवस्था को एकदम ''स्वस्थ'' बताया जा रहा है और यह कहा जा रहा है कि यह पेसो-अवमूल्यन के संकट से पूरी तरह उबर चुका है। कुछ ही महीनों पूर्व जेडिल्लो ने दावा किया था कि मेक्सिको औद्योगिक निर्यातक विश्व शक्ति बनने की कगार पर खड़ा है। सच्चाई यह है कि मेक्सिको के निर्यातोन्मुख उद्योगों का नियंत्रण मुख्यत: बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों में है जो मेक्सिको के मजदूरों को निचोड़कर जो मुनाफा कमाती हैं, उसका बड़ा हिस्सा देश के औद्योगिक विकास में लगने की जगह बाहर चला जाता है। जनता के खून-पसीने को निचोड़ने से अर्जित धन का बहुत बड़ा भाग साम्राज्यवादी देशों और उनकी संस्थाओं के कर्जों की अकूत राशि का सिर्फ ब्याज चुकाने में खर्च हो जाता है। देशी पूंजीपतियों के मुनाफे, नौकरशाहों के वेतन-भत्तों और कमीशन आदि के रूप में जो धन देश में रह जाता है, वह शीर्ष के बहुत थोड़े से हाथों में केन्द्रित होता है। उल्लेखनीय है कि मेक्सिको उन देशों में से एक है **जहां दुनिया के अरबपतियों की सबसे अधिक संख्या है।** मेक्सिको के ग्रामीण इलाकों में भी एग्रीबिजनेस में लगी अमेरिकी कम्पनियों के लोगों और मेक्सिकी फार्मरों की समृद्धि के समान्तर गरीबों की बदहाली का समन्दर ठाठें मारता दिखाई देता है। मेक्सिको में भूमण्डलीकरण की नीतियों के परिणामस्वरूप धनी-गरीब की खाई और भी अधिक तेज रफ्तार से बढ़ती जा रही है।

मेक्सिको का मुख्य ''*विकास उद्योग*'' विदेशी निवेशकों के स्वामित्व वाली माकीलाडोरा फैक्टरियां ही हैं। वास्तव में राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में इनका कोई योगदान नहीं होता। पूंजीपति मेक्सिकी मजदूरों से कम मजदूरी पर 'असेम्बली' का काम कराने के लिए बाहर से 'पार्ट्स' मंगाते हैं और फिर तैयार माल बाहर भेज दिया जाता है। 90 फीसदी मेक्सिकी निर्यात अमेरिकी बाजार में होता है। मेक्सिको की सरकार माकीलाडोरा-मालिकों को बिजली-पानी-सड़क आदि का सारा इन्फ्रास्ट्रक्चर मुहैया कराती है, पर उन्हें कोई टैक्स नहीं देना पड़ता। बुर्जुआ मीडिया माकीलाडोरा कारखानों की इसके लिए बड़ाई करता है कि वे लोगों को रोजगार मुहैया कराते हैं, लेकिन दूसरी ओर सच्चाई यह है कि इन कारखानों में दी जाने वाली मजूरी की दर दुनिया की सबसे कम दरों में से एक है। यहां प्रति घण्टे की मजूरी 41 सेण्ट है जो कोरिया से भी काफी कम है, इसलिए कोरियाई पूंजीपतियों ने अपने संयंत्र बड़े पैमाने पर मेक्सिको स्थानान्तरित कर दिये हैं। मेक्सिको में सस्ते श्रम के चलते **अमेरिकी कम्पनियां हर मजदूर पीछे प्रति घण्टे दस से बारह डालर तक की बचत करती हैं।** पूंजीपतियों की इस बचत की कीमत लोगों की जिन्दगी और सेहत

(शेष पृष्ठ 51 पर)

एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता

■ हांस आइसलर

हांस आइसलर महान जर्मन संगीतकार और संगीत चिन्तक थे। बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के सर्वाधिक प्रतिभावान युवा संगीतकारों में उन्हें गिना जाता था। लेकिन आइसलर ने बुर्जुआ विचारधारा और कला-धाराओं को खारिज किया और अपनी सृजनात्मक क्षमताएं हिटलर-पूर्व जर्मनी में क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग के आन्दोलन को समर्पित कर दीं। इसी दौरान उन्होंने बेर्टोल्ट ब्रेष्ट के साथ मिलकर काम शुरू किया और यह भागीदारी इन दोनों महान कलाकारों के जीवन-पर्यन्त चलती रही। 1933 में आइसलर को नाजी जर्मनी छोड़ना पड़ा लेकिन उनके संगीत सृजन में या फासिस्ट-विरोधी और प्रगतिशील समूहों के साथ उनके काम में कोई कमी नहीं आई। अमरीका में दस वर्ष तक निर्वासन में रहने के दौरान उन्होंने फिल्मों के लिए संगीत तैयार किया, संगीत शिक्षण किया और व्याख्यान देते रहे। मैकार्थी के दौर में उन्हें वाशिंगटन में हाउस कमिटी ऑन अन-अमेरिकन एक्टिविटीज़ के सामने बुलाया गया जिसका एक ही उद्देश्य था, कम्युनिस्टों या उनसे सहानुभूति रखने वालों को प्रताड़ित करना। 1948 में वे यूरोप चले गये और फिर 1950 से मृत्युपर्यन्त पूर्वी जर्मनी में रहे। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में जब पश्चिम की युवा, प्रगतिशील पीढ़ी ने ब्रेष्ट के बहिष्कार को तोड़ा तो आइसलर भी वहां के संगीत पंडितों के लिए "सम्मानीय" हो गये। 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में प्रकाशित एक लेख में डेविड ड्रू ने लिखा है : "उनके निबन्धों और व्याख्यानों में द्वन्द्वात्मक पद्धति पर ऐसी महारत और भाषा पर ऐसी पकड़ दिखती है, इतने विस्तृत सन्दर्भ और ऐसी विदग्धता मिलती है कि खुद को याद दिलाना पड़ता है कि वह मूलत: एक संगीतकार थे।"

प्रस्तुत लेख हांस आइसलर द्वारा दिसम्बर 1931 में डसेलडोर्फ में दिया गया एक व्याख्यान है जहां मजदूरों का नाट्यदल ब्रेष्ट के नाटक 'दि मेज़र्स टेकन' का रिहर्सल कर रहा था।

संगीत में जो नया है, उसके विविध पहलुओं के साथ उसे परिभाषित करने के लिए यह जरूरी है कि संगीत में मौजूद स्थिति का विश्लेषण किया जाये और सर्वोपरि तौर पर, उसका आलोचनात्मक परीक्षण किया जाये। निश्चित ही, ऐसे किसी परीक्षण की दिक्कतें बहुत अधिक हैं। पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली जिस श्रम-विभाजन पर स्थापित है उसने कला के क्षेत्र में 'विशेषज्ञ' और 'शौकिया' (एमेच्योर') के बीच एक खास किस्म के विभाजन को जन्म दिया है। इससे संगीत के बारे में वैज्ञानिक ढंग से बात करने की दिक्कत का पता चलता है। यदि हम कला के बारे में इस तरह से चर्चा करना चाहते हैं कि महज इसका वर्णन करने के बजाय कुछ व्यावहारिक और उपयोगी नतीजे भी निकालें तो यह नितान्त आवश्यक है कि न केवल कला के उत्पादन में, बल्कि कला की अवधारणा में भी वैज्ञानिक पद्धतियों को लागू किया जाये। संगीत के दायरे में विज्ञान को लागू करने में एक खास किस्म की दिक्कत है कि इसका वर्णन केवल उस व्याख्यात्मक शब्दावली में ही किया जा सकता है जो सांगीतिक तकनीक से पैदा होती है और मुमकिन है कि संगीत की दुनिया का कोई शौकिया आदमी उससे परिचित न हो।

आज यदि हम कला के किसी औसत बुर्जुआ उपभोक्ता से संगीत के बारे में उसके विचार पूछें तो हमें यह उत्तर मिलेगा : संगीत अतिप्राचीन काल से मौजूद है और हमेशा मौजूद रहेगा। यह एक समाजोपरि परिघटना है, जिसकी आंशिक व्याख्या, निश्चित तौर पर, सामाजिक परिस्थितियों द्वारा भी की जा सकती है, लेकिन फिर भी जिसका एक स्वतंत्र चरित्र है। कला-शैलियों में परिवर्तनों की व्याख्या अभिरुचि में परिवर्तनों द्वारा की जाती है। संगीत में परिपूर्णता की एक निश्चित मात्रा होती है, जो मनुष्य से स्वतंत्र रूप में मौजूद रहती है, और जो अन्ततोगत्वा अपना प्रभाव छोड़ती ही है, चाहे भले ही आम तौर पर लोगों को उसका पता न चले। क्योंकि जो सचमुच महान है वह कभी न कभी अपना प्रभाव छोड़ेगा ही। यदि मानव जाति विलुप्त हो जाये तो भी संगीत के महान मूल्य, अपने खुद के अन्तर्निहित नियमों का अनुपालन करते हुए, मानव समाज के बाहर और उसके बावजूद, चिरस्थायी बने रहेंगे।

समाजोपरि परिघटना के रूप में संगीत की यह अवधारणा इन सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों तक पहुंचाती है : समाज से बाहर और उससे स्वतंत्र एक काल्पनिक 'हार्मोनी' मौजूद है, वही वह सांगीतिक आदर्श है जो किसी व्यक्ति द्वारा या किसी कलाकृति-विशेष द्वारा हासिल किया जाता है अथवा नहीं किया जाता है। किसी कलाकृति ने किस हद तक परिपूर्ण 'हार्मोनी' अर्जित की है, इसे निर्धारित किया जा सकता है। कला-मूल्यों को निर्धारित करने की पद्धतियां अंशत: तकनीकी होती हैं और अंशत: शुद्ध संवेगात्मक (भावनात्मक) होती हैं। फिर भी ये सामान्य पद्धतियां होती हैं और इन्हें हरेक व्यक्ति लागू कर सकता है, चाहे वह जिस किसी भी सामाजिक वर्ग का हो।

संगीत और सांगीतिक कृतियों की यही अवधारणाएं हैं जो आज आम तौर पर, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ, देखने-सुनने को मिलती हैं। सांगीतिक कर्म से निकाले गये इन विचारों ने संगीत के व्यवहार को कैसे प्रभावित किया है और इसके उलट, संगीत के व्यवहार ने इन विचारों को कैसे प्रभावित किया है? यह मानना पड़ेगा कि इन विचारों ने और अधिक विभ्रम पैदा किया है, क्योंकि यदि एक ही कृति पर अलग-अलग व्यक्ति इन्हें लागू करते हैं तो नतीजे के तौर पर अलग-अलग मूल्यांकन सामने

आते हैं। व्यक्तिगत अभिरुचि ही अकेला पैमाना होता है, लेकिन उसे तकनीकी अथवा विचारधारात्मक रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। व्यापक रूप से व्याप्त और अभी भी फलता-फूलता यह विभ्रम स्पष्ट कर देता है कि ये विचाराधीन पद्धतियां लागू करने लायक अब लगभग रह ही नहीं गई हैं। बुर्जुआ संगीत में संकट के सर्वाधिक प्रत्यक्ष संकेतों में से एक है, इसका अराजक चरित्र। प्रचलित सांगीतिक रीतियों-पद्धतियों में परिवर्तन अराजक हैं, कंसर्ट (संगीत-सभा) का व्यवसाय अराजक है, यहां तक कि कंसर्ट-जीवन में संकट की प्रतिक्रियाएं भी अराजक हैं। कंसर्ट-संगीत में संकट खास तौर पर पिछले कुछ वर्षों के दौरान तीखा हुआ है और शायद यह उस भयावह विनाशकारी आपदा के अपेक्षतया अधिक स्पष्ट रूपों में से एक है जो सुव्यवस्थित बुर्जुआ सांगीतिक सम्बन्धों से बर्बरता की अवस्था में संक्रमण की भविष्यवाणी कर रही है। कंसर्ट-जीवन में संकट की सर्वाधिक युक्तिसंगत व्याख्या सामाजिक है। मुद्रास्फीति के चलते मध्य वर्ग के अधिकार-वंचित होते जाने और व्यापक निम्न-पूंजीपति वर्ग के बढ़ते सर्वहाराकरण के परिणामस्वरूप, युद्ध-पूर्व की शिक्षा के उस स्तर और संगीत की शिक्षा के भी उस स्तर को बनाये रख पाना असंभव हो चुका है जिसने कंसर्टों में जाने के चलन को स्थायित्व प्रदान किया था। निम्न-पूंजीपति वर्ग की व्यापक आबादी, नौकरीपेशा लोग और यहां तक कि मध्य वर्ग भी ऐसे संगीत पर निर्भर हो चुका है जो कठिन और अनिश्चित आर्थिक स्थितियों के इस समय में सुगमता से तुष्ट करता है। हम सभी ने स्वयं उस तथाकथित हल्के या जिंदादिल संगीत के प्रस्फोट को अनुभव किया है जिसकी पहले यह कहकर उपेक्षा की जाती थी कि इसमें गम्भीरता का अभाव होता है। कंसर्ट हाल या आपेरा हाउस जैसी विशेषाधिकार प्राप्त जगहों में भी सबसे सहज-साध्य सांगीतिक आनन्द—जाज़—ने घुसपैठ कर ली है। जाज़ ने श्रोता का इस ढंग से मनोरंजन करना बहुत सम्भव बना दिया है जो जीवन्त तो हो पर जिसमें कोई प्रतिबद्धता न हो, क्योंकि यह श्रोता से किसी तरह का कोई तकाजा नहीं करता। ऐसा सिर्फ जाज़ में ही नहीं हुआ है कि शुद्ध आनन्द का कार्य, जिसे हमने बुर्जुआ संगीत का कार्य बताया था, एक विशुद्ध उद्दीपक बन जाता है। बुर्जुआ संगीत की महानता के युग में हम आनन्द के साधन के रूप में जिस *वेल्टनशाऊंग* (विश्व दृष्टिकोण)* को पाते हैं, वह मृत हो चुका है। अब यह कार्य विशुद्ध रूप से क्षणिक उद्दीपन प्रदान करना भर रह गया है। पिछले पन्द्रह वर्षों में तेजी से बदलते संगीत के फैशनों की केवल इसी तरीके से व्याख्या की जा सकती है। उद्दीपन का असर बहुत जल्दी उतर जाता है और इसलिए बुर्जुआ संगीत के हाल के युग में, जहां इसका कार्य वही रहा है, लगातार संगीत की नयी-नयी पद्धतियों की जरूरत बनी रही है। यह जरूरत समाज में संगीत के कार्य में किसी आम बदलाव से नहीं पैदा हुई है बल्कि यह उसी कार्य, यानी मनोरंजन, को बरकरार रखते हुए बदलाव की चाहत से पैदा हुई है। डेढ़ सौ साल पहले मनोरंजन का एक प्रतिबद्ध चरित्र होता था, उदाहरण के लिए इसका एक वीरोचित चरित्र होता था। लेकिन अब मनोरंजन सिर्फ मजा दिलाने का एक अप्रतिबद्ध उपकरण बन गया है। इसका काम शब्द के पूंजीवादी अर्थ में श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन करना रह गया है। यह प्रक्रिया बर्बर रूप धारण करती है, लेकिन इसके बावजूद द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्यक्ति के लिए इसका एक प्रगतिशील चरित्र भी है। यह बात समझ में आने लायक नहीं लगती है और इसलिए इसकी थोड़े विस्तार से व्याख्या जरूरी है।

पिछले पन्द्रह वर्षों में संगीत के विकास ने कलाकार के व्यक्तित्व और कलाकृति की स्वतंत्रता के बारे में बुर्जुआ कला की पुरानी जड़ शब्दावली को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया है। बुर्जुआ संगीत व्यवसाय का सर्वग्राही चरित्र नष्ट हो गया है। इस संगीत संस्कृति के ध्वंसावशेषों पर एक नई संगीत संस्कृति के लिए मजदूरों के संघर्ष के वास्ते जगह बना दी गई है। यह नई संगीत संस्कृति उनकी वर्गीय स्थिति के अनुरूप होगी जो आज एक स्पष्ट शक्ल अख़्तियार करने लगी है।

पूंजीवाद में संगीत का व्यवहार और संगीत का उपभोग

काम और अवकाश (leisure) के बीच का तीखा अन्तरविरोध, जो पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की विशेषता है, सभी बौद्धिक गतिविधियों को दो हिस्सों में बांट देता है—एक वह जो काम की सेवा करती हैं और दूसरी वह जो अवकाश में काम आती हैं। लेकिन अवकाश श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन की एक प्रणाली है। अवकाश की अन्तर्वस्तु काम की अन्तर्वस्तु नहीं हो सकती। अवकाश उत्पादन के हित में गैर-उत्पादन को समर्पित होता है। पूंजीवाद में संगीत व्यवहार के विशिष्ट रूप का यही सामाजिक-आर्थिक आधार है।

पहले मैं आपको सामन्ती युग में संगीत के प्रति दृष्टिकोण और इसके व्यवहार की एक संक्षिप्त रूपरेखा दे दूं ताकि सामन्तवाद और पूंजीवाद की अलग-अलग संगीत पद्धतियों का वैषम्य स्पष्ट किया जा सके। सामन्तवाद के युग में हम इन रूपों में संगीत को पाते हैं: शासक ऊपरी तबकों के विशेषाधिकार के तौर पर दरबारों में संगीत, शासित वर्ग को निर्देश और शिक्षा देने के लिए चर्च में संगीत तथा काम के समय गाये जाने वाले गीतों, प्रेम गीतों आदि के रूप में कार्य स्थल तथा आम जीवन में संगीत। लेकिन यह विभाजन यांत्रिक ढंग से नहीं किया जाना चाहिए। समाज के विकास के एक बिन्दु पर चर्च संगीत लोक गीतों को अपनाकर अपने अनुकूल ढाल लेता है जबकि दरबारी संगीत चर्च संगीत की गठन पद्धतियों का इस्तेमाल करने लगता है। अब हम अपने विमर्श में एक नया शब्द लाते हैं और वह है—संगीत का कार्य। इससे हमारा आशय है संगीत-सृजन का सामाजिक उद्देश्य। सामन्तवाद में छोटे से विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के लिए संगीत का कार्य था आनन्द और मनोरंजन, उत्पीड़ित वर्ग के लिए इसका कार्य अनुशासनिक था। यहां भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारा रुख लचीला हो। क्योंकि संगीत के अनुशासनिक कार्य तक में भी, उदाहरण के लिए सैन्य संगीत में, आनन्द का पहलू होता है। लेकिन विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के लिए आनन्द ही संगीत का लक्ष्य था; और यही इसका निर्णायक सामाजिक पहलू है।

चर्च के पुरोहितों की निगाह में संगीत तभी तक उचित है जब तक यह ईसाई शिक्षाओं से मेल खाता है और चर्च की प्रार्थनाओं का प्रभाव बढ़ाता है। उनका निर्णय अपने समय के चर्च के व्यावहारिक प्रयोजनों से संचालित होता है। अपने आप में एक उद्देश्य तथा सौंदर्यात्मक आनन्द के रूप में कला की निन्दा की जाती है। मैं अन्तिम वाक्य की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूं क्योंकि यह आज संगीत के प्रति बुर्जुआ दृष्टिकोण की पूरी अन्तर्वस्तु को परिभाषित कर देता है। यदि चर्च के पुरोहित आरम्भिक सामन्तवाद के समय से ही इस दृष्टिकोण का विरोध करते थे तो इससे पता चलता है कि उस समय भी शहरी वर्गों के तबके और जागीरदारों के बीच सामाजिक अन्तरविरोध मौजूद था। पुरोहित वर्ग के संगीत के सौंदर्यशास्त्र के प्रति इस उग्र दृष्टिकोण का

*** क्लासिकी युग में आनन्द का स्रोत ऐसा संगीत था जो एक दर्शन पर आधारित होता था।**

मुख्य उद्देश्य चर्च तथा विधर्मी संगीत के बीच स्पष्ट विभाजन करना था। विधर्मी संगीत में खासकर वर्ण विज्ञानियों (chromatics) को हानिकारक और कमजोर बनाने वाले तत्व कहकर दुत्कारा जाता था। सामन्तवाद में संगीत की अनुमति तभी होती थी जब वह चर्च की सेवा में होता था और वहां भी इसकी भूमिका शब्द की तुलना में मातहत की थी। पुरोहित वर्ग का कहना था, ''ईश्वर ने मनुष्य को संगीत इसलिए दिया है ताकि उसे भजन आसानी से कंठस्थ हो सकें।'' संगीत के ऐन्द्रिक आकर्षण को खत्म नहीं किया जा सकता था लेकिन चर्च ने इसे चर्च की सेविका में तब्दील करके अहानिकर बनाने की पूरी कोशिश की। इसने शब्द पर और गायकों की मनःस्थिति पर बहुत बल दिया लेकिन श्रोताओं पर नहीं। उपरोक्त उद्धरण प्रोफेसर एबर्ट की किताब ***मध्य युग में संगीत के प्रति रुख*** (The Approach to Music in the Middle Ages) से लिया गया है। प्रो. एबर्ट आगे बताते हैं कि हर तरह की सुरीली गायकी और किसी भी तरह के अलंकारों की सख्ती से मनाही थी। ''धर्मपरायण या बुजुर्ग व्यक्तियों के लिए अपने गायन में लोच पैदा करना या कठोर स्वर लाना उचित नहीं है। उन्हें संयमित आवाज में ईश्वर की वंदना करनी चाहिए जिससे उनके गायन का प्रभाव संगीत-सृजन का नहीं बल्कि आह भरने जैसा पड़े।'' भजनों को कंठस्थ करने में मदद तथा शब्दों के भावनात्मक प्रभाव को बढ़ाने के अलावा संगीत का एक कार्य प्रार्थना सभा में पश्चाताप की भावना जगाना और उसे तीव्र करना भी था। यह विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्र शासक वर्गीय हितों से उद्भूत था और व्यवहार में लागू करने पर सामन्ती सम्बन्धों को और स्थिर बनाने में मदद करता था। पादरी हिरोनाइमस का कहना था, और आपको मानना पड़ेगा कि यह एक विशिष्ट सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण है: ''किसी की आवाज चाहे कितनी भी खराब क्यों न हो, यदि उसके कर्म अच्छे हैं तो ईश्वर के समक्ष वह एक अच्छा गायक है। ईसा के सेवकों को गाना चाहिए। गायक की आवाज नहीं बल्कि उसके शब्दों से आनन्द मिलना चाहिए।'' पवित्र आगस्टस किसी भी ऐन्द्रिक स्वर के विरुद्ध जोरदार चेतावनी देते हैं क्योंकि इससे ईश्वर की ओर से ध्यान भटक सकता है जिसमें गम्भीर पाप का खतरा निहित है। व्यावहारिक पुरोहित लोग अपने गायकों को चेतावनी देते हैं कि उनके मनोभाव और उनका आचरण, जो कुछ वे गा रहे हैं, उसकी अन्तर्वस्तु के अनुरूप होना चाहिए, वरना उनका गायन खुद उनके लिए और प्रार्थना सभा के लिए व्यर्थ सिद्ध होगा। आरम्भिक सामन्तवाद में संगीत उत्पादन की कुछ पूर्वशर्तें भी थीं। जैसे, संगीत प्रतिभाजन्य क्षमता की बात नहीं है बल्कि यह सूत्रों का एक योग है जिसे हर कोई हासिल कर सकता है और करना ही चाहिए। और अन्त में, खुद संगीतकार का व्यावहारिक दृष्टिकोण है जो कलाकार के बुर्जुआ विचार से एकदम विपरीत है। उस समय के एक सिद्धान्तकार जोहानेस कॉटनियस ने कहा है, ''कलाकार को हमेशा ही उस जनता की विशिष्टताएं अपने ध्यान में रखनी चाहिए जिसे वह प्रभावित करना चाहता है।''

अब हम चर्च संगीत के कार्य को संक्षेप में इस तरह रख सकते हैं : चर्च में संगीत किसी एक व्यक्ति या उसके व्यक्तिगत भाग्य की ओर लक्षित नहीं है बल्कि इसका कार्य समस्त भागीदारों के आचरण को धार्मिक बनाना है। इस तरह, जब श्रोता को बाद में, समवेत गायन के रूप में संगीत में शामिल होने का मौका मिलता है, तो वह एक तरह के व्यायाम या अभ्यास में भाग लेता है और इस तरह एक विशेष आचरण-व्यवहार के लिए ज्यादा दृढ़ता और प्रभावी ढंग से बाध्य किया जाता है। इस मामले में संगीत में आनन्द एक मातहत तत्व है। संगीत-सृजन का यह रूप जागीरदारों और सामन्तों के वर्ग हितों के अनुकूल था और व्यवहार में इसने बार-बार सामन्तवाद को स्थिर बनाया। इस सामाजिक कार्य से स्वरों के विन्यास की एक विशिष्ट पद्धति निकली जिसे हम सीधे संगीत तकनीक कहेंगे।

मध्य युग में संगीत रचना की तकनीक इस प्रकार थी : सांगीतिक विचारों की प्रस्तुति बहुस्वरात्मक (polyphonic) थी। शास्त्रीय संगीत से पहले की बहुस्वरता में कोई वैषम्य नहीं था, न तो लय व गति में और न ही स्वरों के विन्यास में। इस तकनीक की विशिष्टताओं में से एक है विविधता का अभाव। यह विविधता विषय की है जो इसके विकास को सम्भव बनाती है। संगीत के विषय को विभाजन द्वारा, आवृत्ति द्वारा या आगे बढ़ाकर परिवर्तित नहीं किया जाता और न ही उन्नीसवीं शताब्दी के शास्त्रीय संगीत की तरह इसे विकसित किया जाता है। सांगीतिक विकास अन्य आवाजों में जोड़कर हासिल किया जाता है। आम तौर पर यह बहुस्वरात्मक प्रस्तुति का सार है क्योंकि कोई बंदिश या नकल किसी उस संगीत विचार को विकसित करना ही होता है। ऐसा इसे विभिन्न स्तरों पर, विभिन्न स्वरमानों के साथ और विभिन्न समयों में गाकर या बजाकर किया जाता है।

वाद्य संगीत रचना बुर्जुआ अर्थ में वाद्य संगीत रचना नहीं है। यह विशुद्ध रूप से अलग-अलग हिस्सों की रचना है जिसमें न तो रंग है और न ध्वनि प्रभाव। वादन एक हद तक एकरूप स्वर में किया जाता है। उत्कर्षी आरोह और अवरोह नदारद होते हैं। स्वराघात परिवर्तन की कमी होती है। इससे हम देख सकते हैं कि कैसे एक निश्चित सामाजिक स्थिति एक निश्चित संगीत तकनीक को जन्म देती है और यह तकनीक व्यवहार में लागू किये जाने पर इस सामाजिक स्थिति की मदद करती है।

सामन्तवाद की गोद में पल रहा बुर्जुआ वर्ग सामन्ती उत्पादन प्रणाली का विरोधी होता है। पहले मैं इस सामाजिक अन्तरविरोध की आर्थिक दायरे में व्याख्या कर दूं ताकि हम संगीत जैसे मुश्किल क्षेत्र में इसे स्पष्ट कर सकें। इनमें से एक अन्तरविरोध था मैन्युफैक्चर और भूमि लगान के बीच। सामन्ती भूमि लगान से मुनाफे का स्रोत एक विशिष्ट सामाजिक ढांचा—भूदास प्रथा में होता है। लेकिन पूंजी के अस्तित्व की ऐतिहासिक पूर्वशर्तें क्या हैं? जैसा कि मार्क्स ने लिखा है : ''पूंजी के अस्तित्व में आने की ऐतिहासिक पूर्वशर्तों में पहली है कुछ व्यक्तियों के हाथों में निश्चित मात्रा में धन का संचय, एक ऐसे समय में जब, समग्र रूप में, माल उत्पादन का स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा हो; और दूसरी पूर्वशर्त है 'मुक्त' श्रम की मौजूदगी। इस 'मुक्ति' का दोहरा अर्थ है। पहला यह कि मजदूर अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए हर तरह के बंधनों और सीमाओं से मुक्त है, और दूसरा यह कि वह भू सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों से भी पूरी तरह मुक्त है। जैसा कि मार्क्स व्यंग्य के साथ कहते हैं, वह एक ऐसा मजदूर है जो ''पक्षी की तरह मुक्त''* है।

इस आर्थिक अन्तरविरोध से युवा बुर्जुआ वर्ग का भूदासता के खिलाफ राजनीतिक संघर्ष जन्म लेता है। यह मानवाधिकारों की खोज तक ले जाता है।

सामन्तवाद के तहत एक अन्य आर्थिक अन्तरविरोध मुक्त व्यापार और भू सम्पत्ति पर सामन्ती विशेषाधिकार के बीच था। इस सिलसिले में मैं काउत्स्की[1] के एक आरम्भिक लेख का सहारा लूंगा—यह उनकी युवावस्था के दिनों का है, आज तो वह बहुत बदल चुके हैं। यह व्यापार के लिए शराब के एक पीपे को एमियंस

*** ''Free as a bird'' – इसमें शब्दों का खेल है जिससे कानून द्वारा बहिष्कृत का भी अर्थ निकलता है।**

से पेरिस ले जाये जाने से सम्बन्धित है। मान लें कि एमियंस में शराब के इस पीपे की कीमत 20 फ्रैंक बैठती है। लेकिन पेरिस में यह 50 फ्रैंक का पड़ेगा क्योंकि पीपे को ले जा रही गाड़ी को कई सड़कों से गुजरना पड़ता है जिन पर सामन्तों को तथाकथित चुंगी वसूलने का अधिकार है। सामन्त बिना कोई पूंजी निवेश किये, अपने वर्ग के पैतृक विशेषाधिकार की बदौलत सिर्फ सड़कों पर चुंगी वसूलकर मुनाफा कमा सकता था। सामन्तों की राय में ये विशेषाधिकार ईश्वर प्रदत्त थे। उद्यमी युवा लोगों का स्वतंत्रता का विचार इसका विरोधी था। स्वतंत्रता का यह आर्थिक विचार स्वतंत्रता की राजनीतिक अवधारणा से भी मेल खाता है जो फ्रांसीसी क्रान्ति में 'राइट्स आफ मैन' के रूप में अभिव्यक्त हुई। यानी हर सामाजिक ढांचे का उद्देश्य तीन प्राकृतिक एवं अलिखित मानवाधिकारों की रक्षा करना है। ये तीन अधिकार हैं स्वतंत्रता, सम्पत्ति एवं सुरक्षा और निरंकुशता का प्रतिरोध। यहां हमारे सामने इस बात का शानदार उदाहरण है कि किस तरह आर्थिक हित राजनीतिक रूप ग्रहण करते हैं और राजनीतिक रूप किस तरह *वेल्टनशाऊंग* में ढलकर अनमनीय चरित्र अख्तियार कर लेते हैं। ये सामान्य सिद्धान्त इसी रूप में सामान्य हैं कि वे पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली को सामान्य रूप से सम्भव बनाते हैं। लेकिन यह व्यवहार में लागू कैसे किये गये? निरंकुशता के प्रतिरोध के अधिकार को जल्दी ही तिलांजलि दे दी गई। सिर्फ सम्पत्ति का अधिकार बचा रह गया और इसका मतलब था बुर्जुआ अर्थ में व्यक्तिगत सम्पत्ति। आज, यानी 1931 में, उद्यमियों की आर्थिक स्वतंत्रता का यह विचार अब स्वतंत्रता की एक राजनीतिक अवधारणा से मेल खाता है जो उदाहरण के लिए, वाइमार संविधान में अभिव्यक्त होती है। उदाहरण के लिए यह कहता है, ''प्रत्येक जर्मन का आवास एक आश्रयस्थल है और अनुल्लंघनीय है।'' यहां यह जोड़ना जरूरी है कि आवास आश्रयस्थल और अनुल्लंघनीय बने इसके लिए जरूरी है कि व्यक्ति के पास आवास हो या उसका खर्च उठाने की क्षमता हो। और उससे ऐसा कोई राजनीतिक अपराध नहीं होना चाहिए कि घर की तलाशी का वारंट जारी हो जाये। स्वतंत्रता की यह अवधारणा वाइमार संविधान में आगे कहती है : ''प्रत्येक जर्मन को जमीन का एक टुकड़ा हासिल करने का अधिकार है।'' यहां मैं जोड़ना चाहूंगा कि 99 प्रतिशत जर्मन जनता इस अधिकार का प्रयोग करने की स्थिति में नहीं है क्योंकि इसके लिए आवश्यक मुद्रा का अभाव है। आर्थिक हितों से निर्देशित और व्यवहार में लागू स्वतंत्रता की यह अवधारणा भी कुछ निश्चित आर्थिक सम्बन्धों को सम्भव बनाती है। यह बुर्जुआ कला उत्पादन, कला व्यवहार और इसलिए स्वाभाविक रूप से बुर्जुआ संगीत का आधार भी है। सामन्तवाद के तहत महान सांगीतिक संघर्ष ''सच्चे संगीत के लिए संघर्ष'' के झण्डे तले शुरू हुए जो सामन्तवाद के विरुद्ध बुर्जुआ वर्ग के तीखे संघर्ष को अभिव्यक्त करता था। इस संघर्ष के आरम्भ में बुर्जुआ वर्ग चर्च के साथ सीधे विरोध की स्थिति में था और इसलिए संगीत के सामन्ती कार्य का भी विरोधी था। संगीत का सामन्ती कार्य सभा में पश्चाताप की भावना जगाने और उसे तीव्र करने के सामाजिक उद्देश्य को सम्भव बनाना था लेकिन बुर्जुआ समाज में इसका नया कार्य निजी व्यक्तित्व के सुसंगत विकास में मदद करना है और यह सामन्ती कार्य के प्रत्यक्ष विरोध में है।

बुर्जुआ संगीत का यथासम्भव ठोस ढंग से वर्णन करने के लिए हमें कहना होगा कि ''माल'' शब्द जो पूंजीवाद में निर्णायक कारक है, संगीत के दायरे में भी फैल चुका है। कंसर्ट का रूप संगीत में माल सम्बन्धों के प्रवेश का द्योतक है। कंसर्ट के टिकटों की बिक्री, संगीत की स्वरलिपियों की बिक्री, संगीत विशेषज्ञ—संगीत के मालों के उत्पादक—ये सब इसी की अभिलाक्षणिक विशेषताएं हैं।

बुर्जुआ वर्ग का शास्त्रीय कंसर्ट संगीत संगीत के मालों के खरीदार को लक्षित है और इसका उद्देश्य उसी का मनोरंजन करना है। यह स्पष्ट है कि एक ऐसी सामाजिक अवस्था में जो खुद को व्यक्ति की स्वतंत्रता (यानी उद्यमी की स्वतंत्रता और आर्थिक शक्तियों की स्वतंत्रता) के प्रमाण के रूप में पेश करती है, अब संगीत का वैसा कोई प्राकृतिक कार्य नहीं है जैसा सामन्ती समाज में था। कंसर्ट का यह रूप प्रत्यक्षत: तो सांगीतिक मनोरंजन के सामन्ती विशेषाधिकार का बिल्कुल विरोधी दिखाई देता है। लेकिन नजदीक से परीक्षण करने पर साफ हो जाता है कि यह सम्पत्ति के विशेषाधिकार का एक अपेक्षाकृत अधिक जनतांत्रिक स्वरूप मात्र है। कारण यह कि चर्च के कंसर्ट को जहां सिर्फ सामन्ती श्रोता ही सुन सकते थे, वही कंसर्ट के बुर्जुआ रूप में एक विशिष्ट पूर्वशर्त सामने आती है। यह है शिक्षा और प्रारम्भिक संगीत शिक्षा की शर्त। क्योंकि बुर्जुआ संगीत भी सार्वभौमिक संगीत नहीं बल्कि शासक वर्ग की कला है। बुर्जुआ और सर्वहारा के बीच वैषम्य जितना ही बढ़ता जाता है, संगीत में भी यह स्पष्ट वैषम्य उतना ही बढ़ता जाता है और पूंजीवाद के तहत यह चरम पर पहुंच जाता है। इस वैषम्य को आम तौर पर सरल और कठिन संगीत के अन्तर के रूप में रखा जाता है। यह भी दावा किया जाता है कि यह अन्तर गम्भीर और अगम्भीर संगीत का या गंभीर और सुगम संगीत का है। लेकिन ये सारे लेबल इस तथ्य को नहीं छिपा सकते कि यह अन्तरविरोध एक सामाजिक अन्तरविरोध से पैदा हुआ है। एक समय समस्त सांगीतिक विकास का ध्वजवाहक चर्च संगीत आज पृष्ठभूमि में धकेला जा रहा है। यह अब सामाजिक रूप से निर्णायक कारक नहीं रह गया है। इसका तकनीकी विकास कंसर्ट संगीत से नि:सृत है और इस तरह इसका सामन्ती कार्य भी बदल रहा है। बर्गर भी चर्च जाता है, क्योंकि वह चर्च से अपना झगड़ा काफी पहले खत्म कर चुका है और अब चर्च की विचारधारा का इस्तेमाल मजदूर वर्ग के खिलाफ उसी तरह करता है जिस तरह सामन्तवाद ने इसका इस्तेमाल बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ किया था। आनन्द देने के संगीत के बुर्जुआ कार्य, निजी व्यक्तित्व के सुसंगत विकास और उत्थापन के कार्य से उन्नीसवीं शताब्दी में एकस्वरीय (homophonic) संगीत का व्यापक विकास हुआ। आरम्भिक क्रान्तिकारी व्यक्ति इस बुर्जुआ संगीत विकास के शुरुआती दौर में अभिव्यक्ति पाता है। इस दौर को हम अठारहवीं सदी के मध्य में मैनहाइम स्कूल से मान सकते हैं। बुर्जुआ संगीत अपने उच्चतम शिखर पर बीथोवेन की सिम्फनियों में पहुंचा जिनमें आनन्द को फिर से एक तरह के दार्शनिक विश्व दृष्टिकोण से जोड़ा गया। जहां क्रान्तिकारी दौरों का क्रान्तिकारी बुर्जुआ संगीत सामन्तवाद के विरुद्ध संघर्ष में महान क्रान्तिकारी व्यक्ति को प्रतिबिम्बित करता है, वहीं उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यह निराश और सम्पत्ति बचाने में जुटे निम्न पूंजीपति वर्ग को भी प्रतिबिम्बित करने लगा। उदात्त भाव तुच्छतर और निम्नतर होते गये, वे अधिकाधिक अन्तरंग होते गये। बुर्जुआ वर्ग के पराभव और उभरते सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध इसका आक्रामक रवैया आनन्द को उत्तरोत्तर अपने आप में एक लक्ष्य बनाता गया, जो अधिकाधिक जटिल और मूल्यहीन था। ऊंचा स्थान पा चुके समकालीन बुर्जुआ कलाकार अत्यन्त महत्वपूर्ण और दंभी हो गये और सिर्फ एक छोटे अभिजात वर्ग के लिए माल उत्पादन करने लगे। कुछ कलाकार तो सिर्फ एक माल के उत्पादन में लग गये।

बुर्जुआ संगीत का यह विशिष्ट कार्य संगीत रचना की एक विशिष्ट तकनीक—एकस्वरता

से मेल खाता है। यह बुर्जुआ शास्त्रीय संगीत के सांगीतिक विचारों की प्रस्तुति का ढंग है। यह वैषम्य को सर्वप्रथम और सर्वोपरि रखने के सिद्धान्त पर निर्मित हुआ है। यह सिद्धान्त उच्च स्तर की विविधता और मनोरंजन की गारंटी करता है। हार्मोनी के विकास और इसकी सैद्धान्तिक निष्पत्तियों ने वैषम्य (कंट्रास्ट) की नयी-नयी पद्धतियों को सम्भव बना दिया है। इसके अलावा वाद्य संगीत-विन्यास (इंस्ट्रूमेंटेशन) की तकनीक से भी कंट्रास्ट सुनिश्चित हो जाता है जिसने प्रस्तुति के सांगीतिक साधन के रूप में 'हैम्बर' (एक विशेष ध्वनि-रूप—अनु.) का प्रयोग शुरू किया है। वादन बेहद जीवन्त हो जाता है, आरोह-अवरोह के बारीक सोपान सामने आते हैं। यह शैली निजी अनुभव और निजी कल्पना को अपील करने के लिए अन्य किसी से भी ज्यादा उपयुक्त है। श्रोता को एक पूर्वनिर्धारित रुख अपनाने के लिए बाध्य नहीं किया जाता बल्कि उसे उद्दीप्त करने, उसका मनोरंजन करने और उसके लिए सम्बन्ध निर्मित करने की कोशिश की जाती है।

विकास की यह प्रक्रिया अन्य सभी कलाओं में पायी जाती है। यह विज्ञान में भी पायी जाती है। चर्च संगीत से कंसर्ट संगीत की तरह के ही विकास का एक उदाहरण है मध्य युग के स्कालेस्टिक दर्शन से अठारहवीं शताब्दी के विश्वकोषवादियों और आधुनिक बुर्जुआ दर्शन तक का विकास। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक बुर्जुआ संगीत में एक हद तक सर्वग्राही दृष्टिकोण था, एक तरह का सांगीतिक विश्व दृष्टिकोण था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में बुर्जुआ संगीत में तीव्र संकट उसी समय उत्पन्न हुआ जब पूंजीवाद में संकट की शुरुआत हुई थी। मार्क्स ने अस्सी वर्ष पहले ही सभी राष्ट्रों के संकट के रूप में इस संकट की असाधारण तीव्रता की भविष्यवाणी कर दी थी, और आज हम इसे अपने सामने देख रहे हैं।

बुर्जुआ संगीत में व्याप्त अराजकता का चित्रण करने के लिए हमें उन अलग-अलग धाराओं को स्पष्ट करना होगा जो एक-दूसरे के साथ तीखे द्वन्द्व में उलझी हुई हैं। जर्मनी में संगीत आन्दोलन का दाहिना बाजू—जिसका प्रतिनिधित्व राबर्ट शुमैन द्वारा लीपज़िग में शुरू की गई *ज़ाइट्शरिफ्ट फुर मुज़िक* पत्रिका करती है—वैग्नर से रिचर्ड स्त्रास तक के समय का प्रतिनिधित्व करता है। वे बुर्जुआ संगीत के उस सर्वग्राही चरित्र के लिए अंतिम और कमजोर से योद्धा हैं, जो लगभग खत्म ही हो चुका है। वे *गेब्रॉचमुज़िक*[2] का विरोध करते हैं, और व्यक्ति की आत्मा को झकझोरने और उसकी आत्मिक समृद्धि का, विश्व दृष्टिकोण वाली सिम्फनियों और सिम्फानिक रचनाओं का समर्थन करते हैं। वे बायें बाजू की तकनीकी प्रगति को खारिज करते हैं और मानते हैं कि एक छोटे ऐतिहासिक युग के मूल्य, शाश्वत हैं। राजनीतिक रूप से वे भी एक अधिक शक्तिशाली, युद्ध पूर्व के साम्राज्यवादी जर्मनी की कामना करते हैं, जो होहेनजोलर्न के नेतृत्व में हो तो और भी अच्छा हो। वे कंसर्टों के पक्ष में हैं; वे 1880-1914 की संगीत की स्थिति को पुनर्जीवित करना चाहते हैं। इस दायें बाजू का विशुद्ध पेशेवर स्तर बहुत नीचे है। मुख्यत: उनके पास संगीत के बारे में पुरानी पड़ चुकी धारणायें हैं और व्यापक निम्न पूंजीवादी जनसाधारण से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह स्थिति, वास्तविक संकट के बावजूद, उन्हें एक स्थिर सांगीतिक स्थिति के भ्रम में बनाये रखती है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बुर्जुआ संगीत के उस रुख की पैरोडी भर है, जो कम से कम उत्पादक तो था। उनके सबसे काबिल चिन्तकों में से एक, हाइनरिख शेंकर[3] तो विरोध में चले गये हैं क्योंकि वह सिर्फ शुबर्ट तक के संगीत को मंजूर करते हैं। संगीत के प्रश्नों पर यह दायां बाजू कितना राजनीतिक है, यह सिद्ध करने के लिए (यानी हम अभिशप्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी ही घृणित रूप से राजनीतिक नहीं हैं) मैं शेंकर की किताब ***संगीत के नये सिद्धान्त*** से उद्धृत कर रहा हूं : "विश्व युद्ध का अन्त हुआ तो जर्मनी रणक्षेत्र में अविजित रहा, पर जनतांत्रिक पार्टियों ने उसके साथ विश्वासघात किया। ये पार्टियां जो हैं औसत दर्जे के लोगों की, अर्द्धशिक्षितों और अशिक्षितों के बेलगाम व्यक्तिवाद की, संयोजन की अक्षमता की, गैरजिम्मेदार मतवाद और रक्तपिपासु प्रयोगवाद की, जिनके साथ जुड़ा है आतंक, जनसंहार, धोखाधड़ी, जनता के बारे में झूठ, पश्चिम की नकल; और जिन्होंने हमारे दुश्मन पश्चिमी लोगों से स्वतंत्रता के उनके रूप का झूठ अपना लिया है। इस तरह कुलीनतावाद का आखिरी प्राचीर भी ढह गया है और प्रकृति खुद को जनतंत्र के सामने छली हुई पा रही है। जनतंत्र जो कि बुनियादी और अवयवी रूप से प्रकृति का शत्रु है। क्योंकि संस्कृति चयनात्मक होती है, मेधा की चमत्कारी उपलब्धियों के आधार पर होने वाला अगाधतम संश्लेषण।"

यह दायां बाजू, जिसमें निश्चित रूप से विभिन्न रंगतें और मत शामिल हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के बुर्जुआ संगीत को बरकरार रखने और प्रचारित करने के लिए एक हताश संघर्ष चला रहा है। सिद्धान्त रूप में, वे हर नई बात का विरोध करते हैं।

बुर्जुआ संगीत के मोर्चे के केन्द्र का प्रतिनिधित्व *मुज़िकब्लैटर डेस आनब्रुच* जैसे पत्रों या *फ्रैंकफुर्टर ज़ाइटुंग* और *बर्लिनर टेगब्लैट* जैसे दैनिक अखबारों के संगीत स्तम्भों द्वारा होता है। राजनीतिक रूप से वे मोटा-मोटी *डायचे स्टाटपार्टी*[4] से लेकर *डायचे वोक्सपार्टी*[5] या *ज़ेंट्रम पार्टी*[6] तक के करीब हैं। यह समूह भी पुराने दिनों की याद में आहें भरता है लेकिन यथार्थ के प्रति अन्धा नहीं है। यह संकट को पहचानता है और एक हद तक परम्परा और प्रगति को मिलाने की कोशिश करता है। यह बीथोवेन और स्कूल (एक रूप में घराना-अनु.) संगीत का समर्थक है। यह विदेशी प्रभावों को शामिल करने का समर्थन करता है, यह आर्नल्ड शोनबर्ग तक को मंजूर कर सकता है और यह मजदूरों के संगीत आन्दोलन के भी एक सुधरे हुए रूप के पक्ष में है। यह आशा करता है कि हर चीज व्यक्तिगत मेधा की सृजनात्मक क्षमता और उनकी कृतियों की ऊंची गुणवत्ता से उपजेगी। इस समूह ने शेंकर के इस मत को भी अपना लिया है कि संस्कृति चयनात्मक होती है, वह मेधा की चमत्कारी उपलब्धियों के आधार पर होने वाला अगाधतम संश्लेषण है। लेकिन यह समूह विकास को स्वीकार करता है और सबसे बढ़कर यह संगीत की समृद्धि का पक्ष लेता है। इस धारा के प्रतिनिधियों की राय में, जो वास्तव में अच्छा है वह अपनी जगह बना ही लेगा और अच्छा आधुनिक संगीत इसमें शामिल होगा। जो अच्छा है वह बस अच्छा है। इस समूह के सैद्धान्तिक हिरावल अपने आप से यह नहीं पूछते कि वे अपने मूल्य कहां से लेते हैं और न ही वे समाज में संगीत के स्थान के बारे में सवाल करते हैं।

बुर्जुआ संगीत आन्दोलन का बायां बाजू सबसे दिलचस्प है। यह यथार्थ पर प्रतिक्रिया करने में सबसे संवेदनशील और तेज है। यह अत्यन्त बहुमुखी है और *मेलोस* पत्र तथा स्त्राविंस्की एवं हिण्डेमिथ जैसे संगीतकार इसके प्रतिनिधि हैं। आप यहां तक कह सकते हैं कि वे बुर्जुआ संगीत के पतन के हिरावल हैं और तकनीकी रूप से इसका सर्वाधिक प्रगतिशील बाजू। आर्नल्ड शोनबर्ग जैसे संगीतकार को भी इस समूह में गिना जाना चाहिए। इस बाजू ने कंसर्ट-जीवन में संकट के प्रति अत्यन्त जीवन्त प्रतिक्रिया की है। चूंकि यथार्थ ने आनन्द के एक साधन के रूप में *वेल्टनशाऊंग* के सांगीतिक कार्य का अन्त कर दिया है, तो यह समूह एक कदम और आगे बढ़ गया। उन्होंने कहा कि

संगीत को विश्व दृष्टिकोण को अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए—हालांकि यह बुर्जुआ वर्ग का एक प्रगतिशील विचार था—और *स्पाइलफ्रायड*[7] तथा *ग्रेब्रॉशमुज़िक*[8] जैसे शब्द ढूंढ निकाले। इस तरह अप्रतिबद्ध मनोरंजन को प्रगति में गिना गया और यह स्वीकार्य हो गया। संगीत को महज सुरों का खेल होना चाहिए, इसे मानवीय भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए। एक नई कला मर्मज्ञता पैदा हुई, एक नई आत्मिकता, एक नया लालित्य और एक नया अप्रतिबद्ध उल्लास। संगीत की रचना इस तरह होनी चाहिए ताकि इसमें तुच्छता, दयनीयता और उदारता को जगह न मिले। आदर्श रूप से तो सबसे अच्छा होता कि यह ठण्डा हो और श्रोताओं के भीतरी भावों में हलचल न पैदा करे। जैसा कि वर्षों पहले स्त्राविंस्की ने कहा था—''सबसे अच्छा तो यह होता कि यह सिलाई मशीन की तरह चले।'' पिछले दो वर्षों में, जर्मनी में तीव्र संकट के दबाव में इस बायें बाजू में जबर्दस्त बदलाव आया है और इसने एक बार फिर संगीत की आत्मा और एक नई गीतिमयता को पा लिया है।

बर्लिन में *स्पीलफ्रायड* के सूत्रधार पाल हिण्डेमिथ ने अपनी गीति कथा *अनवरत* का पहला प्रदर्शन देखा। यह गीति कथा एक उत्सुकता जगाने वाली रचना है क्योंकि यह दिखाती है कि बुर्जुआ वर्ग अपने सबसे गहरे संकट के समय में नये उद्दीपन की खोज में अपने विश्व दृष्टिकोण की ओर लौट रहा है। एक पतनशील दौर में नये उद्दीपन की तलाश में उस विश्व दृष्टिकोण को फिर से सामने लाया जा रहा है। और इसलिए शेंकर एवं *न्यू ज़ाइट्शरिफ्ट फुर मुज़िक* से लेकर स्त्राविंस्की, हिण्डेमिथ और *बर्लिनर टेगब्लैट* तक ने मिलकर एक मोर्चा बना लिया है। लेकिन संगीत में बुर्जुआ वर्ग के इस संयुक्त मोर्चे की राह में कोई चीज खो गई और हमेशा के लिए नष्ट हो गई। अतीत में बुर्जुआ कलाकार एक पूर्ण और भरा-पूरा व्यक्तित्व होता था। पर वर्तमान समय में स्त्राविंस्की और हिण्डेमिथ जैसे हमारे संगीतकार इस बारे में काफी अनिर्णय में हैं कि उन्हें कैसी रचना करनी है। स्त्राविंस्की की प्राय: हर कृति या कृतियों का समूह एक भिन्न शैली में है। आधुनिक बुर्जुआ कलाकार बुर्जुआ व्यवस्था की बुनियाद की तरह ही लड़खड़ा रहा है। और इसीलिए यह नवीनतम उपलब्धि, बुर्जुआ संगीत का संयुक्त मोर्चा भी एक लड़खड़ाती हुई एकता ही है।

बड़े पूंजीपति वर्ग के संगीत आन्दोलन के इन तीन समूहों के मुकाबले जोडी[8] के नेतृत्व वाले लोक संगीत आन्दोलन और सामाजिक जनवादियों की संगीत सम्बन्धी गतिविधियां हैं। व्यवहार में उनका सरोकार मुख्यत: पुराने चर्च संगीत और लोक संगीत का परिष्कार करने से है। इसके पीछे वास्तविक राजनीतिक कारण भी हैं। मैं यहां जोडी का सिर्फ एक वाक्य उद्धृत करना चाहूंगा : ''लोक गीतों को पुनर्जीवित करके युवाओं को राजनीति से दूर ले जाओ।'' सामाजिक जनवादियों की सुधारवादी गतिविधियां बुर्जुआ-जनतांत्रिक केन्द्रवादी समूह की कमजोर नकल मात्र हैं। वे कंसर्ट संगीत और जोडी के, स्त्राविंस्की और रिचर्ड स्त्रास के हिमायती हैं। दरअसल वे हर चीज की हिमायत करते हैं। वे सोचते हैं कि संगीत के किसी किस्म के रहस्यमय से प्रभाव से काफी कुछ निकलेगा। मंत्रालय के सलाहकार प्रोफेसर केस्टनबर्ग[9] की सबसे उल्लेखनीय सलाह यह है कि मजदूर को ''खुलकर गाने'' के जरिये खुद को मुक्त करना चाहिए। इस सुधारवादी मजदूर संगीत आन्दोलन के भीतर एक बायां बाजू भी है—यह मजदूरों द्वारा गठित विरोध पक्ष है। लेकिन हाल में उनमें से कुछ को डी.ए.एस.बी. यानी जर्मन वर्कर्स कोरल सोसायटी जैसे मजदूर वर्ग के बड़े संगीत संगठनों से बाहर निकाल दिया गया है। सुधारवादियों का कहना है कि उन्हें राजनीतिक नहीं बल्कि औपचारिक कारणों से निकाला गया है। सम्भवत: विरोधी पक्ष ने किसी मौके पर किसी नियम का उल्लंघन किया था जिसका फायदा उठाकर मजदूरों के संगीत आन्दोलन के सबसे जीवन्त और सबसे प्रगतिशील हिस्सों को उनके ही संगठनों से बाहर कर दिया गया।

संगीत की सम्भावनाएं क्या हैं, किस वर्ग में नई पद्धतियों की रचना होगी, कौन सा वर्ग जीवन और कला के बीच, व्यवहार और सिद्धान्त के बीच नये सम्बन्धों की रचना करेगा? अपनी आर्थिक स्थिति के चलते किस वर्ग की संगीत के एक नये कार्य में अत्यन्त फौरी रुचि है। नया संगीत भौतिक क्रान्ति के जरिए नहीं जन्म ले सकता, यह केवल उन सामाजिक परिवर्तनों के जरिए पैदा होगा जिनमें एक नया वर्ग सत्ता सम्हालेगा और जिनमें कला का भी एक नया सामाजिक कार्य होगा। वैज्ञानिक पद्धतियों को लागू करने पर इस प्रश्न का उत्तर मिलता है। क्रान्तिकारी सर्वहारा वह एकमात्र वर्ग है जिसे नई पद्धतियों की जरूरत है और जिसके लिए संगीत के कार्य में परिवर्तन एक अनिवार्य आवश्यकता है। सत्ता के लिए संघर्ष और समाजवाद के निर्माण की प्रक्रिया में वे व्यवहार के दौरान नई पद्धतियां तलाशेंगे—और कुछ पा भी ली गई हैं। इनमें एक समाजवादी संगीत संस्कृति की पद्धतियों के पहले आधार भ्रूण रूप में मौजूद हैं। इस विकास को पूरी तरह समझने के लिए मजदूरों के संगीत आन्दोलन के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा देना जरूरी है।

मजदूरों का संगीत आन्दोलन

मजदूरों के बीच संगीत रचना की पहली अवस्था बुर्जुआ वर्ग की तुलना में इसके ''उच्च'' सांस्कृतिक स्तर के लिए नहीं बल्कि उनके द्वारा संगीत के मौलिक प्रयोग के लिए उल्लेखनीय है। निश्चित रूप से, संगीत समितियों (सोसायटियों-अनु.) का रूप बुर्जुआ वर्ग से लिया गया था लेकिन मेहनतकश लोगों के पहले संगीत संगठनों और बुर्जुआ संगठनों में बुनियादी अन्तर थे। मुख्य अन्तर तो यह था कि 1860-70 के आसपास जर्मनी में बनने वाली मजदूरों की पहली वृंदगान मंडलियों (कोरल सोसायटियों-अनु.) के सामने एक वास्तविक राजनीतिक कार्यभार था। समाजवाद विरोधी कानूनों के तहत गैरकानूनी राजनीतिक संघर्ष के दौर में वे राजनीतिक गतिविधि के लिए एक आवरण के समान थीं। प्रकटत: विशुद्ध सांस्कृतिक संगठन के जुझारू चरित्र का पता इसी बात से चलता है कि गठन के तुरन्त बाद ही उनपर पुलिस की निगरानी लगा दी गई और अन्तत: उन्हें दबा दिया गया। यह हमें संस्कृति के प्रति सर्वहारा के क्लासिकीय रुख की शिक्षा देता है। अवकाश के जरिए—यहां संगीत गतिविधियों के जरिए—श्रमशक्ति का पुनरुत्पादन करने की बाध्यता के चलते यह सांस्कृतिक संगठन तत्काल ही मजदूरों की वर्गीय स्थिति में खिंच आते हैं और जुझारू चरित्र अख्तियार कर लेते हैं। ठीक यही चीज उनके लिए यह असम्भव बना देती है कि वे खुद को सिर्फ बुर्जुआ *लाइडरटाफेल* साहित्य तक सीमित रखें जो सिर्फ व्यक्ति के प्रकृति से सम्बन्ध, प्रेम, Gemütlichkeit, विनोदशीलता आदि का चित्रण करता है। अपने संगठन की हिफाजत करने की बाध्यता से उन्हें आक्रामक रुख अपनाना होता है जो सांस्कृतिक मामलों में आन्दोलन और प्रचार के रूप में सामने आता है। इसी ने आगे चलकर संगीत के एक विशिष्ट रूप *टेंडेंज़लाइड* (Tendenzlied) को जन्म दिया।

उत्पादन प्रक्रिया में एकतरफा तौर पर जुटे रहने के कारण मजदूर अभी तक इस स्थिति में नहीं थे कि खुद ही सांस्कृतिक रूप से प्रभावी हो सकें। उस समय उन्होंने संगीत की नई दिशा तो नहीं स्थापित की पर उन्होंने

एक नई पद्धति जरूर शुरू कर दी। जहां तक उनकी सांगीतिक सामग्री का सवाल है, बुर्जुआ सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह एक ऐसी शैली थी जिसे बुर्जुआ वर्ग के उन्नत तबकों द्वारा पुराने ढंग का और हास्यास्पद माना जाता था। अगर किसी ने 1880 में यह कहा होता कि मजदूरों के ये कुछ बेढंगे से और खुल्लमखुल्ला 'लाल' गीत वे साधन थे जिनके द्वारा मजदूर जर्मन शास्त्रीय संगीत की महान विरासत को धारण करेंगे, तो यह बात सर्वाधिक विवेकपूर्ण व्यक्ति को भी बकवास ही लगती। लेकिन यह सही है क्योंकि इतिहास ने हमें सिखाया है कि हर नई संगीत शैली किसी नये सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से नहीं पैदा हुई है और इसलिए किसी भौतिक क्रान्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती है बल्कि सामग्री में परिवर्तन समाज में संगीत के समग्र कार्य में ऐतिहासिक रूप से आवश्यक परिवर्तन की शर्त है।

हमें मजदूरों के संगीत आन्दोलन के आरम्भिक दौर में भी बार-बार दोहरायी जाने वाली इस प्रक्रिया को पहचानना होगा। केवल धुंधली सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि और द्वन्द्वात्मक रूप से अशिक्षित दिमाग वाले लोग ही संगीत के कार्य में परिवर्तन के इन छोटे-छोटे चिन्हों को पहचानने से चूक सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में वर्ग सचेत मजदूरों की स्थिति को देखते हुए कार्य में यह परिवर्तन छोटा ही हो सकता था। जिस समय विज्ञान अभी सिर्फ प्रचार के काम में लगा हुआ था, जिस समय सामाजिक दबाव और बेरोकटोक पूंजीवाद व्यापक आबादी को मार्क्सवाद के लिए तैयार कर रहे थे, वैसे में इस बात को समझा जा सकता है कि मजदूरों की कला अभी प्रगतिशील विचारों को प्रतिबिम्बित करने में सक्षम नहीं थी। उस समय *टेंडेंज़कुंस्ट* (Tendenzkünst) एक ऐसी कला थी जिसे वर्ग सचेत मजदूर गैर वर्ग-सचेत मजदूर के सामने प्रस्तुत करता था। इसका उद्देश्य दोनों को झकझोरना, वर्गीय मूल-भावनाओं को जगाना और उन्हें वर्ग संघर्ष में खींच लाना था। इसलिए संगीत और शब्दों को इस तरह का होना होता था जो गैर वर्ग-सचेत मजदूर को तथा व्यक्ति की भावनाओं को अपील करे। यह नियोजित प्रचार कार्रवाई के पहले का कदम था।

1880 से 1914 के बीच के वर्षों में बड़ी संख्या में ऐसी कृतियां मुखर साहित्य में आईं, सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यांकन के अनुसार जिनका आशय था बुर्जुआ वर्ग की पिछड़ी संगीत शैली को अपनाना। आज हम जानते हैं कि यह एक ऐतिहासिक सीमा थी क्योंकि बुर्जुआ वर्ग आधुनिक औद्योगिक सर्वहारा को जो शिक्षा उपलब्ध कराता है वह उसे सिर्फ शोषण के लिए अनुकूलित करती है और सर्वहारा को उस चीज से लैस नहीं करती जिसे बुर्जुआ कलाकार गहरा कला बोध कहते हैं। इसलिए गायकों और श्रोताओं दोनों को दी जाने वाली संगीत सामग्री काफी सरल ही हो सकती थी और इसका विन्यास ऐसा होना चाहिए था जो श्रोताओं में विशुद्ध भावनात्मक प्रभाव पैदा करे। मजदूरों की इस विशुद्ध व्यावहारिक कलात्मक गतिविधि के साथ-साथ हमें एक और आकांक्षा का परीक्षण करना चाहिए।

यह राष्ट्रीय शिक्षा का पुराना विचार है जिसे संगीत के क्षेत्र में लागू करने का मतलब होगा सामन्तवाद और बुर्जुआ वर्ग के संगीत पर मजदूरों द्वारा अधिकार कर लेना। शुरुआत से ही इसका नाकाम होना तय था क्योंकि मजदूरों की आर्थिक स्थिति उनके लिए कला के प्रति बुर्जुआ वर्ग जैसा ही रुख अपनाना असम्भव बना देती है। यह हर सुधारवादी कार्रवाई की पुरानी गलती है जो फिर समझौते तक ले जाती है और जिसका अनिवार्य परिणाम होता है सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से मूल्यवान सामग्री और राजनीतिक रूप से मूल्यवान सामग्री को आमने-सामने खड़ा कर देना। अनजाने ही सही, यह बुर्जुआ वर्ग को फायदा पहुंचाता है।

यह स्पष्ट है कि हमें इन सुधारवादी आकांक्षाओं से भी लड़ना होगा। लेकिन मजदूरों को सिर्फ इसी से खतरा नहीं है। उन्हें कला के उस भोंडे निम्न पूंजीवादी दृष्टिकोण से भी खतरा है जो बुर्जुआ वर्ग के तबकों से मजदूरों के बीच घुसपैठ करता है। हमें याद रखना चाहिए कि आपरेटा, हिट सांग, छद्म और असली लोक गीत समाज के सभी तबकों की बड़ी आबादी द्वारा सुने जाते हैं और यहां मजदूरों के सामने उतना ही बड़ा खतरा है जितना कि संगीत में मौजूद वर्गदम्भ से है। शास्त्रीय संगीत की समझ और उसमें रुचि पैदा करना उचित है बशर्ते इसका इस्तेमाल हल्के मनोरजन संगीत को खत्म करने के लिए किया जाये। मनोरंजन संगीत के मुकाबले शास्त्रीय संगीत के लाभ स्पष्ट हैं क्योंकि यह मेहनतकश वर्ग के श्रोताओं से सजग होकर सुनने की मांग करता है जबकि मनोरंजन संगीत ऐसी कोई मांग नहीं करता बल्कि आलसीपन और दिमाग को ढीला छोड़ देने का भाव पैदा करता है। बुर्जुआ संगीत की महान कृतियों की प्रस्तुति के द्वारा मजदूर वर्ग के श्रोताओं पर इस खतरे को दूर करना जरूरी है। लेकिन अगर इसके परिणामस्वरूप मजदूरों में *टेंडेंज़मुज़िक* (सर्वहारा संगीत) के प्रति नकारात्मक रवैया पैदा हो गया तो यह लाभ बेहद गम्भीर नुकसान में भी तब्दील हो सकता है।

मजदूरों के संगीत आन्दोलन को राजनीतिक संघर्षों में सोच के स्तर तक उठाने के लिए यह जरूरी है कि बुर्जुआ संगीत गतिविधियों के रूपों की आलोचना की जाये और उनका अब गैर-आलोचनात्मक ढंग से कतई इस्तेमाल न किया जाये। साथ ही मजदूरों की नई सामाजिक स्थिति का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए।

पुराने *टेंडेंज़मुजिक* के सामने वर्ग-सचेत मजदूर द्वारा गैर वर्ग-सचेत मजदूर को अपने पक्ष में करने का कार्यभार था। लेकिन आज की राजनीतिक स्थिति भिन्न है। मजदूरों की व्यापक आबादी के पास अपने संगठन हैं, ट्रेड यूनियनें, पार्टियां, सांस्कृतिक और खेल संगठन। ये संस्थाएं सही क्रान्तिकारी अवस्थिति तय करने के लिए लगातार संघर्ष चला रही हैं। रणकौशल का सवाल मजदूर वर्ग के लिए प्रासंगिक हो गया है। जब यह सवाल अनावश्यक हो जायेगा, यानी जब सही रणकौशल अपनाया जायेगा, तभी क्रान्ति विजयी होगी। *टेंडेंजकुंस्ट,* जो 1880 के मजदूर संगीत आन्दोलन के दृष्टिकोण की यांत्रिक ढंग से नकल करता है, अपने बीच कुछ कलात्मक दृष्टि से प्रगतिशील तत्वों के बावजूद निरर्थक और प्रतिक्रान्तिकारी है। लम्बे दौर में यह प्रतिगामी सिद्ध होगा क्योंकि यह मजदूर आन्दोलन के भीतर के तमाम अन्तरविरोधों की अनदेखी करता है। *टेंडेंज़मुज़िक* का काम यह नहीं हो सकता कि वह जुझारू मजदूरों की भावनाओं को निरुद्देश्य ढंग से झकझोरता रहे। इससे स्थिति में कोई बदलाव नहीं आयेगा। इस तरह के संगीत का स्थान एक ऐसी क्रान्तिकारी कला को लेना चाहिए जिसका मुख्य चरित्र जुझारू और शिक्षात्मक हो। इसके लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी चिन्तन पद्धति और पिछले अस्सी वर्षों में इसके परिणामों पर सोचना होगा, पिछले बीस वर्षों के क्रान्तिकारी अनुभव के बारे में सोचना होगा।

एक ऐसे समाज में, जहां व्यापक जनता वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर तो एक है लेकिन इसे कैसे चलाया जाये, किन तरीकों और साधनों से चलाया जाये, इस पर बंटी हुई है, पहली बार कला समाज का महान शिक्षक बन सकती है। कला को वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त और अनुभवों को ताकतवर और प्रभावशाली छवियों में चित्रित करना होगा। बुर्जुआ कला का मुख्य उद्देश्य आनन्द है। मजदूर वर्ग अपने वर्गीय इतिहास के जटिलतम और कठिनतम दौरों में से एक से गुजर रहा है; इसकी अपनी कतारों में तमाम अन्तरविरोध हैं। फिर भी सत्ता पर कब्जा करने का वास्तविक कार्यभार इसके सामने है और

इसने फिर से कला को अपना महान मित्र बनाया है। कला, जिसका कार्य बदल रहा है। आनन्द, जो मुख्य उद्देश्य था, अब एक उद्देश्य का साधन बन गया है। कला अब महज लोगों की सौन्दर्य की प्यास को नहीं बुझाती, बल्कि यह सौन्दर्य का प्रयोग व्यक्ति को शिक्षित करने के लिए करती है, मजदूर वर्ग के विचारों और वर्ग संघर्ष की वास्तविक समस्याओं को बोधगम्य और प्राप्य बनाने के लिए करती है।

संगीत अब अपने सौन्दर्य से वेश्यावृत्ति नहीं कराता बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के गड्डमड्ड भावों में व्यवस्था और अनुशासन लाता है। हम देख सकते हैं कि कला के कार्य में एक नया और महान परिवर्तन आयेगा। वर्ग इतिहास की सबसे कठिन स्थिति में एक शिक्षक, एक शस्त्र के रूप में सामने लायी गई कला उस सबको छोड़ चुकी है जिसे बुर्जुआ कलाकार ''सुन्दर'' कहता है। एक वर्गविहीन समाज में कला का नया कार्य उल्लेखनीय स्तर तक इसकी शुरुआत में ही निहित है।

मजदूरों के संगीत आन्दोलनों में अमल में लायी जा रही नई पद्धतियों पर मैं यही कहना चाहूंगा कि इसके लिए कोई तैयार नुस्खा नहीं दिया जा सकता। मजदूरों के संगीत आन्दोलन में विशेषज्ञों का यह काम है कि वे क्रान्तिकारी कला के नये कार्यों में निहित भौतिक परिवर्तनों का परीक्षण करें। साथ ही मजदूरों की व्यापक आबादी और उनके पदाधिकारियों को अपने विशेषज्ञों को बाध्य करना चाहिए कि वे यह विश्लेषण जरूर करें और इसके नतीजों को अमल में लागू करके उनका नियंत्रण तथा आलोचनात्मक परीक्षण करें।

निष्कर्ष के तौर पर मैं कहना चाहता हूं: समाजवाद का अर्थ है समाज में विवेक का प्रवेश। अगर हम—और हमसे मेरा मतलब है सर्वहारा के हिरावल, क्रान्तिकारी मजदूर—वास्तव में सत्ता पर कब्जा करना चाहते हैं, इसके बारे में सिर्फ एक अस्पष्ट और दूरस्थ स्वप्न के रूप में बात नहीं करना चाहते, तो हमें एक ऐसी कला के व्यवहार को प्रचारित करना होगा जो अपनी नई पद्धतियां क्रान्तिकारी मजदूरों के रोजमर्रा के संघर्षों से लेती है। लेकिन इसे सिर्फ उनकी पीड़ाओं और चिन्ताओं को ही नहीं प्रतिबिम्बित करना चाहिए, जैसा कि सुधारवादी और ''सामाजिक'' कलाकार सोचते हैं, बल्कि इसे जर्मनी के भूखे और गरीब लोगों की व्यापक आबादी द्वारा सत्ता पर अधिकार करने के सही तरीकों को स्पष्ट करना चाहिए। सत्तर साल पहले, जब जर्मन मजदूर अभी फटेहाल सी स्थिति में और संस्कृति से च्युत था, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के क्लासिकीय लेखकों में से एक फ्रेडरिक एंगेल्स ने घोषणा की थी कि इन्हीं बदबख्त स्त्री-पुरुषों का वर्ग, जो आज बर्बर अवस्था में जी रहे हैं, एक दिन वह एकमात्र वर्ग होगा जो जर्मनी में क्लासिकी दर्शन की विरासत को धारण करने और आगे बढ़ाने के लिए सामने आयेगा। यह सुनकर उस समय के सभी प्रोफेसरों के हंसी के मारे पेट में बल पड़ गये थे। और मैं एंगेल्स की भविष्यवाणी को संगीत में लागू करता हूं और यह मानता हूं कि मजदूर, यानी यहां डसेलडोर्फ में रूर के खदान मजदूर, सोलिंगेन के धातु मजदूर, हेक्स्ट के रसायन मजदूर, यही वह एकमात्र वर्ग है जो हमारी आंखों के सामने हो रहे बुर्जुआ वर्ग की संगीत संस्कृति के क्षरण और पतन के बाद महान बुर्जुआ संगीत की विरासत को उत्कंठापूर्वक स्वीकार करेगा और आगे बढ़ायेगा। इसी वर्ग से समाजवाद की नई संगीत संस्कृति के निर्माता सामने आयेंगे।

प्रगतिशील बुर्जुआ संगीतकारों से इतना ही कहा जा सकता है कि संगीत की नई पद्धतियां बुर्जुआ वर्ग के विरुद्ध क्रान्तिकारी मजदूरों के रोजमर्रा के संघर्ष में ही उभरेंगी; और एक नई संगीत संस्कृति तभी निर्मित होगी जब जर्मनी के मजदूर सत्ता पर काबिज होंगे और समाजवाद का निर्माण करेंगे।

टिप्पणियां :

1. कार्ल काउत्स्की (1854-1938), जर्मन सामाजिक-जनवादियों के एक प्रमुख सिद्धान्तकार, बाद में मार्क्सवाद से दूर चले गये और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के विचार को खारिज किया। लेनिन ने उनके प्रतिक्रान्तिकारी विचारों की विस्तृत आलोचना की है।

2. गेब्राँचमुज़िक Gebrauchsmusik (उपयोगी संगीत) - इस शब्द का प्रयोग 1920 के दशक में उस संगीत के लिए किया जाता था जो कंसर्ट में नहीं प्रस्तुत किया जाता था बल्कि खास कामों में उपयोग में आता था, जैसे थियेटर या फिल्म, सामाजिक अवसरों आदि के लिए।

3. हाइनरिख शेंकर (Heinrich Schenker), Neue Musikalische Theorien and Phantasien, 2nd vol., Vienna\Liepzig, 1922

4. जर्मन स्टाट पार्टी (Deutsche Staatspartie) 1930 में जर्मन डेमोक्रेटिक पार्टी के महत्वपूर्ण हिस्सों और प्रतिक्रियावादी समूहों द्वारा गठित। 1932 के आम चुनाव में इसका लगभग सफाया हो गया।

5. जर्मन पीपुल्स पार्टी (Deutsche Valkspartie) बुर्जुआ पार्टी, 1918-1933 (भारी उद्योग एवं वित्त द्वारा समर्थित); 1920-21 और 1922-30 तक सरकारी पार्टी; प्रमुख नेता गुस्ताव स्त्रेसमैन

6. सेंटर पार्टी (Zentrum Party), 1871 में गठित मुख्य बुर्जुआ कैथोलिक पार्टी

7. स्पीलफ्रायड, स्पीलमुज़िक (spielfreude, spielmusik),—ये शब्द 1920 एवं '30 के दशक के खास किस्म के संगीत के द्योतक हैं (हिण्डेमिथ, बटिंग आदि) जिसे आइसलर ज्यादा ही ''प्रमुदित'' और ''यांत्रिक गति वाला'' मानते थे।

8. फ्रिट्ज़ जोडी, (Fritz Jode), 1887-1970, जर्मनी में युवाओं के बीच बुर्जुआ संगीत आंदोलन का महत्वपूर्ण प्रतिनिधि। उसने युवाओं के बीच लोक संगीत की परम्परा और प्रथाओं को जिन्दा रखने का मूल्यवान प्रयास किया लेकिन क्रान्तिकारी मजदूर वर्गीय संगीतकारों ने लोक संगीत पर उसके निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण और उस समय के सामाजिक संघर्षों में उसकी गैर-भागीदारी के लिए उसकी आलोचना की।

9. लिओ केस्टेनबर्ग (Leo Kestenberg), 1882-1962, पियानोवादक और संगीत शिक्षक, प्रशा के संस्कृति मंत्रालय में 1919-32 तक संगीत सम्बन्धी मामलों के सलाहकार के रूप में किया; बुर्जुआ-जनवादी, सर्वतोमुखी संगीत शिक्षा के समर्थक; 1933 में देश छोड़ने के लिए बाध्य किये गये।

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

''रूढ़ियों को लोग इसलिए मानते हैं, क्योंकि उनके सामने रूढ़ियों को तोड़ने वालों के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं।'' —राहुल सांकृत्यायन

राजेश कुमार

(आशुलिपिक, व्यापार कर विभाग)

91 ए, एम ब्लाक, से. 23, राजनगर, गाजियाबाद

समाजवादी काल में वर्ग संघर्ष के नियम

● ची पिङ

समाजवाद के ऐतिहासिक दौर में, वर्ग-अन्तरविरोध और वर्गसंघर्ष कैसे विकसित और परिवर्तित होते हैं? उनके नियम क्या हैं?

समाजवादी काल में वर्ग-संघर्ष के नियमों का पूर्ण ज्ञान हासिल करने के लिए सबसे पहले हमें चीन में इस काल के मुख्य अन्तरविरोध को समझना होगा। 1949 में चीन लोक गणराज्य की स्थापना की पूर्व-संध्या पर अध्यक्ष माओ ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की सातवीं केन्द्रीय कमेटी के दूसरे प्लेनरी सत्र में स्पष्ट रूप से इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि देश में प्रधान अन्तरविरोध है, **''मजदूर वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का अन्तरविरोध''**। उसके बाद कई अवसरों पर अध्यक्ष माओ ने इस बात को रेखांकित किया कि समाजवाद के ऐतिहासिक दौर में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच और समाजवादी मार्ग तथा पूंजीवादी मार्ग के बीच संघर्ष मौजूद रहता है और पूंजीवादी पुनर्स्थापना का खतरा बना रहता है।

1962 में आठवीं केन्द्रीय कमेटी के दसवें प्लेनरी सत्र में अध्यक्ष माओ ने समाजवाद के पूरे ऐतिहासिक काल के लिए पार्टी की आधारभूत कार्यदिशा को और भी सम्पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया और चेताया कि हमें **''वर्ग-संघर्ष को कभी नहीं भूलना चाहिए।''** अपने नेतृत्व में चीनी जनता को समाजवादी क्रान्ति और समाजवादी निर्माण में अपने नेतृत्व में आगे बढ़ाते हुए उन्होंने सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच मुख्य अन्तरविरोध को समझने के लिए द्वंद्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार, दृष्टिकोण और पद्धति को अपनाया, सर्वहारा की तानाशाही में जारी क्रान्ति के अनुभवों का समाहार किया, और सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच वर्ग-संघर्ष के नियमों का निरन्तर उद्घाटन किया।

वर्ग संघर्ष अनिवार्य है

1957 में माओ ने कहा था, **''वर्ग-शत्रु निरपवाद रूप से अपनी दावेदारी प्रस्तुत करने के मौके तलाशेगा। राज्यसत्ता और सम्पत्ति गंवाने पर वे संतोष नहीं कर लेंगे। उल्टे जितना ही कम्युनिस्ट पार्टी अपने शत्रुओं को पहले से ही चेतावनी देगी और अपनी रणनीति को उनके सामने खोलेगी, शत्रु उतने ही हमले करेगा। वर्ग-संघर्ष मनुष्य की इच्छा से मुक्त, एक वस्तुपरक सत्य है। मतलब यह कि वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है।''**

सारे वर्ग-शत्रु, सारी प्रेतात्माएं और राक्षस निरपवाद रूप से सामने आयेंगे ही, यह उनकी प्रतिक्रियावादी प्रकृति से तय होता है। प्रतिरोध संगठित किये बिना, अपनी इच्छा से उखाड़ फेंके गये प्रतिक्रियावादी वर्ग इतिहास के मंच से हट जाएं, ऐसी कोई घटना आज तक न तो घट सकी है और न ही घटेगी। वे प्रतिक्रियावादी वर्ग प्रकृति और प्रत्ययवादी विश्व दृष्टिकोण के चलते अपने आप को ज्यादा और क्रान्ति की शक्तियों को कम आंकते हैं। वे सर्वहारा वर्ग की परम श्रेष्ठता को गलती से परम निकृष्टता समझ बैठते हैं। इसीलिए जब कभी भी मौका आता है वे अपने आपको बढ़ा-चढ़ाकर दिखाये बिना नहीं रह पाते हैं। गम्भीर झटकों और शर्मनाक हारों के बावजूद वे इस नियम के मुताबिक व्यवहार जारी रखते हैं।

पिछले बीस या उससे अधिक वर्षों के दौरान सर्वहारा के अधिनायकत्व को ठोस बनाने के संघर्ष के व्यावहारिक अनुभवों ने अध्यक्ष माओ की थीसिस का सत्यापन कर दिया है। नये चीन की स्थापना के बाद के शुरुआती दौर में, जब चीनी जनता अमेरिकी आक्रमण के विरोध में और कोरिया की सहायता के लिए आंदोलन चला रही थी, तब अनैतिक पूंजीवादी निर्दयतापूर्वक सरकारी कार्यालय और उद्यमों में काडरों को घूस देने, टैक्स चोरी और समाजवाद को कमजोर बनाने और अर्थव्यवस्था के राजकीय सेक्टर की गुप्त तोड़-फोड़ वाली अन्य गतिविधियों में लिप्त थे। ''हमारे काडरों को निकालकर'' और ''हमारी पंक्तियों में चोरी से घुसकर'' उन्होंने एक उन्मत्त आक्रमण कर दिया। हू फेंग प्रतिक्रान्तिकारी गुट ने क्रान्तिकारी कतारों में घुसकर अन्दर से ही इसकी जड़ें खोदकर सर्वहारा शक्ति का विध्वंस करने का असफल प्रयत्न किया। 1955 में तीन लाख चीनी निशानों के प्रतिक्रान्तिकारी ''स्मृति पत्र'' के साथ आये। 1957 में बुर्जुआ दक्षिणपंथियों ने पार्टी के पतन की योजना बनाने, समाजवादी व्यवस्था का निषेध करने और खुद सत्ता हथियाने के लिए पार्टी के शुद्धिकरण अभियान का फायदा उठाया, जो पार्टी में कमजोरियों के उन्मूलन के लिए चलाया गया था। यह सारे और अन्य उदाहरण दिखलाते हैं कि कैसे वर्ग-शत्रु अपनी इच्छा से हम पर हमला करने के लिए सामने आया और यह व्यक्ति की इच्छा से स्वतंत्र एक वस्तुपरक सिद्धान्त है।

पार्टी में घुस आये बुर्जुआ प्रतिनिधि भी इस सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जायेंगे। वे पराजित शोषक वर्गों और सारी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के हितों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे अड़ियलपन के साथ अपना दावा पेश करेंगे। काओ काङ से लेकर ल्यू शाओ ची और दूसरे राजनीतिक उचक्कों तक सारे षड्यंत्रकारियों और कैरियरवादियों ने स्वेच्छापूर्वक, पार्टी के नेतृत्व पर कब्जा जमाने और सत्ता हथियाने तथा पार्टी की लाइन और नीतियों और समाजवादी व्यवस्था को बदलने की असफल कोशिशों में पार्टी के खिलाफ हमले किये। उनकी प्रतिक्रियावादी वर्ग प्रकृति और दुरंगे चरित्र वाली चालबाजियां, और गहराई में जड़ें जमा चुके उनके विश्व दृष्टिकोण ने यह तय किया कि वे पार्टी के शत्रु रहेंगे। उनको ऐसा करने से रोकना असम्भव है, और उन्हें कोई नहीं बचा सकता था। जब ल्यू शाओ-ची जैसे राजनीतिक उचक्कों की पार्टी-विरोधी गतिविधियों का पर्दाफाश हो गया, तब अध्यक्ष माओ ने एक सर्वहारा क्रान्तिकारी के मन की विशालता के चलते बार-बार उसे बचाने का हरसंभव प्रयत्न किया। फिर भी उसने पश्चाताप की न्यूनतम भावना का भी प्रदर्शन नहीं किया, उसने पागलपन के साथ अपने प्रतिक्रान्तिकारी अपराधों को जारी रखा और अपना ही विनाश करता रहा। अब हमारी समाजवादी क्रान्ति और निर्माण की स्थिति लगातार बेहतर होती जा रही है, सर्वहारा अधिनायकत्व और भी मजबूत हो गया है और विदेशी मामलों पर अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी दिशा से नित नये परिणाम मिल रहे हैं। इन सारी चीजों ने चीन में सारी राष्ट्रीयताओं की जनता में उल्लास का संचार किया है और उन्हें प्रेरित किया है।

अन्तरराष्ट्रीय पृष्ठभूमि

जैसा कि लेनिन ने कहा है : **''संशोधनवाद एक अंतरराष्ट्रीय परिघटना है।''** (*मार्क्सवाद और संशोधनवाद*)। पार्टी में संशोधनवादी लाइन के मुखिया अवश्यंभावी रूप से अपने आप को प्रकट करेंगे, इस तथ्य की अंतरराष्ट्रीय जड़ें हैं। चीनी में सर्वहारा अधिनायकत्व का विध्वंस करने के लिए, साम्राज्यवाद और सामाजिक-साम्राज्यवाद हमारी पार्टी में अपने एजेण्ट ढूंढ़ने की कोशिश करेंगे। हमारी पार्टी में छिपे संशोधनवादी और अवसरवादी अपने तईं, हमेशा समर्थन के लिए उनके पास जायेंगे। ल्यू शाओ-ची जैसे राजनीतिक उचक्कों के पार्टी-विरोधी षड्यंत्र पृथक या संयोगवश नहीं हैं; उनकी भी एक अन्तरराष्ट्रीय पृष्ठभूमि है। संशोधनवाद की आलोचना करने और कार्य पद्धति को दुरुस्त करने में आंदोलन की महान विजय ने सामाजिक-साम्राज्यवाद को गम्भीर झटके दिये हैं। वर्ग-संघर्ष की वास्तविकताएं हमें बताती हैं कि **''यह एक समाजवादी देश के भीतर, साम्राज्यवादियों के साथ गठजोड़ बनाए प्रतिक्रियावादियों का मामला था, जो लोगों के कान भर कर मतभेदों को बढ़ावा देने, और अव्यवस्था को और बढ़ाने के लिए, जनता के बीच के अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर अपने षड्यंत्रकारी लक्ष्यों को पूरा करने की कोशिश कर रहे थे।''** (*माओ त्से-तुङ: जनता के बीच अन्तरविरोधों को हल करने के बारे में*)। केवल मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टिकोण से अपने देश में वर्ग-संघर्ष का अंतरराष्ट्रीय वर्ग-संघर्ष के साथ जोड़कर अध्ययन करने पर हम समाजवादी दौर में वर्ग-संघर्ष और दो लाइनों के बीच संघर्ष के नियमों को सही ढंग से समझ सकते हैं।

हर कुछ वर्ष पर एक बड़ा संघर्ष

समाजवाद के दौर में सर्वहारा और बुर्जुआ वर्ग के बीच के संघर्ष के विकास और परिवर्तन को संचालित करने वाले समय से सम्बन्धित एक नियम होता है। अपने देश के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर हम देख सकते हैं कि कुछ वर्षों के अंतरालों पर एक बड़ा संघर्ष होता रहा है। समाज में वर्ग-संघर्ष और पार्टी में दो लाइनों के संघर्ष पर भी यह नियम लागू होता है। नये चीन के जन्म के बाद के शुरुआती सालों में, जब समाजवादी क्रान्ति और निर्माण ने प्रारम्भिक जीत हासिल कर ली थी और उसका विकास जारी था, तब काओ काङ और जियू शू-शी ने सत्ता हथियाने के एक व्यर्थ प्रयास में तिकड़मों से एक पार्टी-विरोधी गठजोड़ बनाया। 1959 के लुशान सम्मेलन में पेंग ते-हुआइ पार्टी नेतृत्व पर कब्जा करने की कोशिश में, समाजवाद के निर्माण के लिए आम दिशा, महान छलांग और जनता के कम्यून पर हमला करने वाले चुनौती के खुले पत्र के साथ सामने आया। उसकी कोशिश रौंद दी गयी थी। बाद में ल्यू शाओ-ची और दूसरे उचक्के हमारी पार्टी में फूट डालने और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने के व्यर्थ प्रयास में, और बड़े स्तर की दुरभिसन्धियों और षड्यंत्रों में लिप्त हो गये और बुर्जुआ हेडक्वार्टर स्थापित किया। यद्यपि वे और भी ज्यादा विनाशपूर्ण अंत को प्राप्त हुए।

हर कुछ वर्षों के अंतराल पर एक बड़ा संघर्ष क्यों होता है? यह समाजवादी दौर में मुख्य अन्तरविरोध के विकास के चरणों को प्रतिबिम्बित करता है। अध्यक्ष माओ ने हमें सिखाया है : **''किसी चीज की विकास की प्रक्रिया में मूलभूत अन्तरविरोध और इस मूलभूत अन्तरविरोध से निर्धारित इस प्रक्रिया का सार, इस प्रक्रिया के पूरे होने तक ओझल नहीं होगा; लेकिन एक लम्बी प्रक्रिया में परिस्थितियां सामान्यतः हर चरण में बदल जाती हैं। इसका कारण यह है कि, हालांकि किसी चीज के विकास की प्रक्रिया में मूलभूत अन्तरविरोध की प्रकृति और प्रक्रिया का सार तो अपरिवर्तित ही रहता है, पर लम्बी प्रक्रिया में मूलभूत अन्तरविरोध जैसे-जैसे एक चरण से दूसरे में चरण में प्रवेश करता जाता है, यह और भी अधिक तीव्र होता जाता है।''** (*अन्तरविरोध के बारे में*)। हमारे देश में समाजवादी क्रान्ति कदम-बा-कदम गहरी होती गई है, सैद्धान्तिक और राजनीतिक मोर्चे पर समाजवादी क्रान्ति के बाद उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व के समाजवादी रूपांतरण का काम बुनियादी तौर पर पूरा हुआ है। हमारे हर नये कदम और हमारी हर जीत से बुर्जुआ वर्ग और पार्टी के भीतर उसके एजेण्टों को निरपवाद से कष्ट पहुंचा और इसीलिए उन्होंने इन चीजों का प्रबल विरोध किया। इस तरह जैसे-जैसे समाजवादी क्रान्ति कदम-बा-कदम बढ़ती जाती है, सर्वहारा और बुर्जआ वर्ग के बीच अन्तरविरोध और संघर्ष की लम्बी प्रक्रिया में सुनिश्चित अवस्थाएं आकार ग्रहण करती जाती हैं। अन्य अन्तरविरोधों की गति के समान ही, हर सुनिश्चित अवस्था गति की दो स्थितियों को ग्रहण करती है —सापेक्षिक विराम और स्पष्ट परिवर्तन। दी गई परिस्थितियों के अन्तर्गत यह अपने आपको पहली से दूसरी स्थिति में रूपांतरित करती है, यानी अपेक्षतया नम्र से अपेक्षतया तीव्र में; दूसरी स्थिति में अन्तरविरोध हल हो जाता है और एक नयी सुनिश्चित अवस्था शुरू हो जाती है। इस तरह समाजवादी दौर में सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच संघर्ष लहरों की तरह कभी ऊंचा उठता है कभी मद्धिम पड़ जाता है। समय की विशिष्ट शब्दावली में यह हर कुछ सालों पर होने वाले एक बड़े संघर्ष में अभिव्यक्त होता है। जाहिरा तौर पर यह एक सामान्य अवस्थिति है। प्रत्येक बड़ा संघर्ष, अपेक्षतया छोटे अंतराल पर होता है या काफी बड़े अंतराल पर होता है, यह घरेलू और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों और हमारे काम पर निर्भर करता है।

हर बड़े संघर्ष के बाद पराजित वर्ग-शत्रु आक्रमण से पीछे हटने को बाध्य हो जाते हैं। लेकिन फिर भी उनकी प्रतिक्रियावादी वर्ग-प्रकृति के चलते उनसे अपनी पुरानी आदतों से तोबा कर लेने और एकदम नये रास्ते पर चल पड़ने की उम्मीद नहीं की जा सकती। लेकिन अपनी पराजय के तुरन्त बाद उनके लिए यह भी सम्भव नहीं होता कि वे पूरी ताकत से जवाबी हमला करें। ऐसा इसलिए होता है कि क्योंकि हर बड़े संघर्ष में वे बुरी तरह से तहस-नहस कर दिये जाते हैं। उनके बुर्जुआ हेडक्वार्टर नेस्तनाबूद कर दिये जाते हैं, उनके संशोधनवादी कार्यक्रम और लाइन, और साथ ही साथ उनकी प्रतिक्रियावादी धोखेबाजियों की, जिनका इस्तेमाल वे लोगों को मूर्ख बनाने और उन्हें छलने में करते हैं, सम्पूर्ण आलोचना की जाती है। इस दौरान मुट्ठीभर प्रतिक्रान्तिकारी कट्टरपंथी जो एक साथ इकट्ठा होते हैं, हमारे हमलों से बिखर जाते हैं, और जनता के सामने बेनकाब हो चुकी उनकी दोमुंही चालबाजियां अब काम नही आतीं। संक्षेप में कहें तो उन्हें सांस लेने का समय चाहिए होता है। हमारे देश में पार्टी की प्रतिष्ठा बहुत ज्यादा है, मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा ने लोगों के दिल में, गहराइयों में इस कदर जड़ें जमा ली हैं, सेना और जनता में इतनी एकता है और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की चट्टानी सुदृढ़ता इतनी ताकतवर है कि वर्ग-शत्रु सिर्फ छिपकर गुपचुप तरीके से तैयारी-सम्बन्धी काम ही कर सकता है, ऐसा करना भी उसके लिए काफी मुश्किल होता है। सर्वहारा वर्ग के गढ़ के समक्ष उन्हें फिर से अपनी शक्ति समेटकर हमारे साथ एक और बड़ा शक्ति परीक्षण करने के लिए कई सालों की जरूरत होती है। कहने की जरूरत नहीं कि, कभी-कभी संघर्ष उलझ जाते हैं। ऐसी एक घटना हो चुकी है : इस

संघर्ष में संशोधनवादी लाइन के जो मुखिया हैं, वह और कोई नहीं बल्कि वह अगुआ नेता या वह आधार-स्तम्भ हैं जिन्होंने अन्तिम संघर्ष में संशोधनवादी लाइन को बढ़ावा दिया था और साफ-सुथरे बच निकले थे। फिर भी, उखाड़ फेंकी गयी प्रतिक्रियावादी ताकतें कुछ भी तैयारियां कर लें, जब भी वह सामने आयेंगी, उन्हें और कुछ नहीं, बस करारी हार मिलेगी।

जब हम कहते हैं कि हर कुछ सालों के अंतराल पर एक बड़ा संघर्ष होता है, तो इसका मतलब यह नहीं होता कि दूसरे मौकों पर सुलह और शांति होती है, और हम निश्चिंत बैठ कर आराम कर सकते हैं। वर्ग-संघर्ष का लहरों की तरह उठना और गिरना ऐसा नहीं होता कि वह दिखे और गायब हो जाये। हर बड़ा संघर्ष दिन-प्रतिदिन के संघर्षों का विस्तारण ही होता है—परिमाणात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन के विकास की एक प्रक्रिया। इसीलिए हमें हर साल, हर महीने और हर दिन वर्ग-संघर्ष का स्मरण करना चाहिए। सिर्फ वर्ग-संघर्ष और उसके नियमों की संतुलित समझदारी रखकर ही हम संघर्षों में पहले ले सकते हैं।

विप्लव अनिवार्य रूप से व्यवस्था में रूपान्तरित हो जाता है

समाजवादी दौर में बुर्जुआ वर्ग के प्रेत और राक्षस बराबर दिक्कतें पैदा करते रहते हैं और सर्वहारा लगातार इन प्रेतों की सफाई करता रहता है। एक भारी उथल-पुथल के बाद व्यवस्था हासिल कर ली जाती है। यह वर्ग-संघर्ष के विकास का एक और नियम है।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद हमें बताता है कि विप्लव और व्यवस्था विपरीत तत्वों की एकता बनाते हैं। विप्लव की अनुपस्थिति में व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठता; विप्लव अनिवार्य रूप से व्यवस्था में रूपान्तरित हो जाता है। अध्यक्ष माओ ने कहा है : **''इस तरह, बाधाएं दोहरा चरित्र रखती हैं। सारी बाधाएं इसी तरह से समझी जा सकती हैं।''** *(जनता के बीच अन्तरविरोधों को हल करने के बारे में)*। यह एक बुरी बात है कि वर्ग-शत्रु सामने आते हैं और दिक्कतें पैदा करते हैं लेकिन एक बार जब वे ऐसा कर देते हैं, तो वे अपने प्रतिक्रान्तिकारी गुणों को खुलेआम नंगा कर देते हैं।

परिणामस्वरूप वर्ग-ध्रुवीकरण हमेशा से अधिक स्पष्ट हो जाता है, और जनता को इन दुश्मनों से और बेहतर ढंग से संघर्ष कर और इन बदमाशों के सफाये के लिए कदम उठा कर सर्वहार अधिनायकत्व और मजबूत बनाती है। इन अर्थों में, एक बुरी चीज एक अच्छी चीज में बदल सकती है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान प्रेत और राक्षस दिक्कतें पैदा करने के लिए सामने आये और कुछ जगहों पर कुछ के लिए ऐसी भ्रम की स्थिति थी कि मानो चीजें वास्तव में गम्भीर रुख अपना रही थीं। लेकिन परिणाम क्या हुआ था? मुट्ठी भर वर्ग-शत्रुओं को ढूंढ निकाला गया था और संघर्ष में जनता को शान्त करना पड़ा था। ल्यू शाओ-ची और धोखेबाज, जिन्होंने पहले ईमानदारी का मुखौटा चढ़ा रखा था, जब सामने आये और पार्टी नेतृत्व पर कब्जा करने का षड्यंत्र रचा तो उन्होंने अपना मुखौटा उखाड़ कर फेंक दिया और अपना उग्र रूप दिखा दिया। तब कैडर और जनता पार्टी का विरोध करने के अपराधों का खुलासा करने और उनकी आलोचना करने के लिए सक्रिय हो गये, और इस चीज ने सच्चे और पाखण्डी मार्क्सवाद में भेद करने की उनकी क्षमता को अत्यधिक बढ़ा दिया। इस तरह से यह देखा जा सकता है कि एक बार जब वर्ग-शत्रु अपने जहरीले दांतों को दिखला देते हैं तो वे अपने सर्वनाश की ओर बढ़ रहे होते हैं। 95 फीसदी से भी ज्यादा लोग और कैडर उनके पतित कृत्यों को नहीं सहेंगे।

मार्क्सवाद यह मानता है कि वर्ग-संघर्ष वह प्रेरक-शक्ति है जो इतिहास को आगे ले जाता है। समाजवादी समाज वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया में ही विकसित होता है। हर बार प्रेत और राक्षस दिक्कतें पैदा करते हैं और क्रान्तिकारी जनता द्वारा पराजित हो जाते हैं। शोषक वर्गों और प्रतिक्रियावाद की सभी ताकतें कमजोर हो जाती हैं जबकि सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व और भी मजबूत हो जाता है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों के कमजोर होते जाने और बार-बार होने वाले शक्ति-परीक्षणों के साथ सर्वहारा अंततः बुर्जुआ वर्ग और अन्य सभी प्रतिक्रियावादी वर्ग के सफाये के महान ऐतिहासिक मिशन को पूरा करने में सक्षम हो जायेगा। निश्चित रूप से, विप्लव और व्यवस्था का कोई चक्र अपने आपको सामान्य रूप से, दोहरा नहीं रहा है, बल्कि निरपवाद रूप से इसमें नयी अंतर्वस्तु होती है। हर संघर्ष के बाद, जनता का ज्ञान एक उच्चतर स्तर पर पहुंच जाता है और समाजवादी उद्देश्य एक और विजयी कदम आगे बढ़ाता है। हमारे देश में सर्वहारा अधिनायकत्व लगातार मजबूत हुआ है, और हर दिन के बीतने के साथ समाजवादी उद्देश्य निश्चित रूप से विकसित हुआ है क्योंकि सर्वहारा वर्ग जमींदारों और पूंजीपति वर्ग और सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों और उपद्रव मचाने वाले और विघटनकारी गतिविधियों में लिप्त उनके प्रतिनिधियों के खिलाफ, एक के बाद एक, सभी संघर्षों में जीत हासिल करता गया है।

बुरी चीजों को अच्छी चीजों में बदलना परिस्थितियों पर निर्भर करता है। वर्ग-शत्रु अपनी इच्छा से इतिहास के मंच से नहीं उतर जायेंगे; विप्लव स्वयं ही व्यवस्था में रूपान्तरित नहीं हो जायेगा। **''दी गई परिस्थितियों में, किसी अन्तरविरोध के दो विरोधी पहलुओं में से प्रत्येक निरपवाद रूप से, अपने बीच के संघर्ष के नतीजे के तौर पर स्वयं को अपने विपरीत में रूपान्तरित कर देता है। यहां पर परिस्थितियां अत्यावश्यक हैं। दी गई परिस्थितियों के बिना, दोनों अन्तरविरोधी पहलुओं में से कोई भी स्वयं को अपने विपरीत में रूपान्तरित नहीं कर सकता।''** *(जनता के बीच अन्तरविरोधों को हल करने के बारे में)*। हमारे देश में विप्लव को व्यवस्था में रूपान्तरित करने का, अध्यक्ष माओ की क्रान्तिकारी लाइन को दृढ़-प्रतिज्ञता से लागू करने का पार्टी नेतृत्व को मजबूत बनाने और जनता के विस्तृत समूहों में एका स्थापित करने का मूलभूत महत्व है। इस शर्त को पूरा करके ही हम तीखे और जटिल वर्ग-संघर्ष और दो लाइनों के बीच संघर्ष में अवस्थिति को स्पष्ट रूप से देख सकने में, अपने और दुश्मन के बीच भेद की एक सुस्पष्ट रेखा खींचने में, दो तरह के अन्तरविरोधों मे सही तरीके से भेद करने और उन्हें हल करने में, और वर्ग-शत्रुओं पर बुरी तरह से हमला करने और क्रान्ति को सही रास्ते पर आगे बढ़ाने के लिए जिन भी शक्तियों में एका बन सकती है उन्हें एकत्रित करने में सक्षम हो सकते हैं। निश्चित तौर पर अध्यक्ष माओ के नेतृत्व वाली पार्टी केन्द्रीय कमेटी और उनकी सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के दम पर ही यह सम्भव हुआ है। इस लाइन के कारण ही पिछले दशकों में अवसरवादी लाइन के तमाम मुखिया पार्टी का विध्वंस करने में असफल रहे। इस चीज के बिना विप्लव व्यवस्था को रास्ता नहीं दे सकता। ऐतिहासिक विकास अंततः प्रतिक्रियावादियों की इच्छा से स्वतंत्र होता है, जिन्हें निश्चित रूप से जनता उखाड़ फेंकेगी।

अध्यक्ष माओ की सर्वहारा क्रान्तिकारी लाइन के मार्गदर्शन के अन्तर्गत हम समाजवादी दौर में वर्ग-संघर्ष के नियमों को जरूर आत्मसात करेंगे और कदम-दर-कदम सर्वहारा क्रान्ति को अंत तक ले जायेंगे।

अनुवाद : **अभिनव सिन्हा**

स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र

■ मार्गरेट बेन्सटेन

हमारे जटिल समाज में हर चीज की तरह स्त्रियों की हैसियत भी एक आर्थिक बुनियाद पर टिकी होती है।

—एलीनॉर मार्क्स और एडवर्ड एवेलिंग

समाज की वर्ग संरचना के विश्लेषण में आम तौर से 'स्त्री-प्रश्न' की उपेक्षा कर दी जाती है। इसका कारण यह है कि जहां एक तरफ वर्गों को सामान्यत: उत्पादन के साधनों के साथ उनके सम्बन्धों के आधार पर परिभाषित किया जाता है वहीं दूसरी तरफ, यह माना जाता है कि स्त्रियों का उत्पादन के साधनों के साथ कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं बनता। बल्कि दिखायी यह देता है कि यह विशिष्ट श्रेणी सभी वर्गों में शामिल है। और हम स्त्रियों की चर्चा मेहनतकश औरतों, मध्यमवर्गीय औरतों के रूप में करते भी हैं। स्त्रियों की हैसियत स्पष्टत: पुरुषों से कमतर होती है[1], परन्तु इस स्थिति का विश्लेषण करते समय बहुधा समाजीकरण, मनोविज्ञान, अन्वैयक्तिक सम्बन्धों अथवा एक सामाजिक संस्था के रूप में विवाह की भूमिका जैसे कारणों पर चर्चा होने लगती है।[2] प्राथमिक कारक क्या यकीनन यही हैं? इस बात पर बहस चलायी जाये कि औरतों के दोयम दर्जे की हैसियत का मूल आधार वस्तुत: आर्थिक है तो यह प्रमाणित किया जा सकता है कि बतौर एक समूह औरतों का उत्पादन के साधनों से एक सुनिश्चित सम्बन्ध होता है जो पुरुषों के सम्बन्ध से भिन्न होता है। वैयक्तिक और मनोवैज्ञानिक कारक उत्पादन के साथ इस विशिष्ट सम्बन्ध के बाद आते हैं और उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन इन्हें बदलने की एक अनिवार्य शर्त है (परन्तु पर्याप्त नहीं)।[3] उत्पादन के साथ स्त्रियों के इस विशिष्ट सम्बन्ध को यदि मान लिया जाये तो स्त्रियों की स्थिति का विश्लेषण स्वाभाविक रूप से समाज के वर्ग विश्लेषण से जुड़ जाता है।

उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले लोगों तथा उजरत के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचने वालों के बीच विभाजन पूंजीवादी समाज में वर्गों की चर्चा का प्रस्थान बिन्दु होता है। जैसा कि अर्नेस्ट मेंडल कहते हैं—

> संक्षेप में कहें, तो सर्वहारा की यह स्थिति उत्पादन के साधनों अथवा जीविकोपार्जन के साधनों तक उसकी पहुंच न हो पाने से होती है जो, सामान्यीकृत रूप में माल उत्पादन करने वाले समाज में, सर्वहारा को अपनी श्रम शक्ति बेचने के लिए बाध्य कर देती है। इस श्रम शक्ति के बदले में उसे जो मजदूरी मिलती है उससे वह अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जरूरी उपभोग के साधनों को हासिल करता है।
>
> उजरत पर जीवन निर्वाह करने वालों की, सर्वहारा की, यह संरचनागत परिभाषा है। इससे अनिवार्यत: उसका अपने श्रम के साथ, अपने श्रम के उत्पादों और समाज में अपनी समग्र स्थिति के साथ एक सुनिश्चित सम्बन्ध निकलता दिखायी देता है, संक्षेप में जिसे प्रकट करने का संकेत शब्द है अलगाव। परन्तु इस ढांचागत परिभाषा से उसके उपभोग का स्तर... उसकी आवश्यकताओं की सीमा अथवा किस हद तक वह उन्हें पूरा कर सकता है, जैसी तमाम चीजों के बारे में कोई आवश्यक निष्कर्ष नहीं निकलता।[4]

हमारे पास इसी के अनुरूप स्त्रियों की ऐसी कोई संरचनागत परिभाषा नहीं है। यहां जिस चीज की जरूरत सबसे पहले है वह स्त्रियों की गौण स्थिति के लक्षणों की पड़ताल नहीं है बल्कि इसकी जगह पूंजीवादी (और दूसरे) समाजों में भौतिक परिथितियों का वह विवरण है जो ''स्त्री'' समूह को परिभाषित करता है। इन्हीं परिस्थितियों पर विशिष्ट अधिरचनाएं निर्मित होती हैं जिनके विषय में हम जानते हैं। मेंडल का एक दिलचस्प उद्धरण इस प्रकार की परिभाषा को स्पष्ट करता है—

> प्रत्यक्ष उपभोग के लिए निर्मित की गई सामग्री के विपरीत माल... एक ऐसा उत्पाद होता है जिसे बाजार में विनिमय के लिए पैदा किया जाता है। *प्रत्येक माल का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों का होना आवश्यक है।*
>
> इसका एक उपयोग मूल्य होना चाहिए अन्यथा इसे कोई नहीं खरीदेगा... किसी के लिए बिना किसी उपयोग मूल्य के माल अंतत: अपव्यय होगा, एक व्यर्थ का उत्पादन होगा, और चूंकि इसका उपयोग मूल्य नहीं है अत: इसका कोई विनिमय मूल्य भी नहीं होगा।
>
> दूसरी तरफ, उपयोग मूल्य वाले प्रत्येक उत्पाद का विनिमय मूल्य हो ही यह आवश्यक नहीं। इसका विनिमय मूल्य तभी होता है जब वह समाज, जिसमें माल का उत्पादन होता है विनिमय पर आधारित हो और एक ऐसा समाज हो जहां विनिमय एक आम चलन हो...।
>
> पूंजीवादी समाज में, माल उत्पादन, विनिमय-मूल्यों का उत्पादन अपने चरम विकास तक पहुंच चुका रहता है। मानव सभ्यता के इतिहास में यह पहला ऐसा समाज है जहां उत्पादन में बड़ा हिस्सा माल उत्पादन का होता है। बेशक यह भी सच नहीं है कि, पूंजीवाद के अन्तर्गत समस्त उत्पादन माल उत्पादन ही होता है। दो किस्म के उत्पाद ऐसे भी हैं जिनका सिर्फ उपयोग मूल्य ही होता है।
>
> पहली श्रेणी के उत्पादों में ऐसी तमाम चीजें आती हैं जिसे किसान आबादी अपने निजी उपभोग के लिए पैदा करती है, और जिसे उस कृषि भूमि से सीधे इस्तेमाल कर लिया जाता है, जहां इसका उत्पादन होता है....
>
> पूंजीवादी समाज में दूसरी श्रेणी के उत्पाद, जिनकी गणना माल के रूप में नहीं होती बल्कि जिनका मात्र उपयोग मूल्य ही होता है, वे सभी वस्तुएं हैं जो घर में पैदा की जाती हैं। बावजूद इसके कि गृहस्थी से जुड़े इस तरह के उत्पादन में यथेष्ट मानव श्रम लगा होता है, इनका सिर्फ उपयोग मूल्य ही होता है और इन्हें माल नहीं कहा जा सकता। हर बार जब कोई सूप तैयार किया

जाता है या कपड़े पर बटन टांका जाता है तब उत्पादन तो हो रहा होता है परन्तु यह उत्पादन बाजार के लिये नहीं होता।

माल उत्पादन के अस्तित्व में आने और आगे चलकर उसके व्यवस्थित रूप लेने तथा सर्वव्यापी हो जाने ने आदमियों के करने के श्रम के तरीके और समाज को संघटित करने के उनके ढंग में क्रान्तिकारी रूपान्तरण कर दिया है।[5]

शायद मेंडल ने इस पर ध्यान भी न दिया हो कि उनका अन्तिम अनुच्छेद किस कदर सही है। माल उत्पादन की उपस्थिति ने वास्तव में *आदमी* के श्रम करने के तरीके में रूपान्तरण कर दिया है। जैसा कि वे इंगित करते हैं पूंजीवादी समाज में (और इस मामले में वर्तमान समाजवादी समाजों में भी) घर-गृहस्थी में होने वाला ज्यादातर श्रम बाजार-पूर्व अवस्था में रहता है। यही वह काम है जो औरतों के लिए आरक्षित होता है और औरतों की एक परिभाषा ढूंढ़ने का आधार हमें इसी तथ्य से मिल सकता है।

शुद्धम-शुद्ध परिभाषा के नजरिये से ही देखा जाये तो बच्चों के पालन-पोषण और घर-गृहस्थी में लगने वाला श्रम सामाजिक रूप से आवश्यक उत्पादन का एक भारी हिस्सा होता है। इसके बावजूद, माल उत्पादन पर आधारित समाज में इसे आमतौर पर ''वास्तविक काम'' इसलिए नहीं माना जाता क्योंकि यह व्यवसाय और बाजार क्षेत्र के बाहर रहता है। यह बिल्कुल वास्तविक अर्थों में प्राक्-पूंजीवादी होता है। एक विशेष प्रकार की कोटि ''स्त्रियों'' के लिए कर्तव्य रूप में घर-गृहस्थी के कामों के इस निर्धारण का अर्थ है कि 'पुरुष' समूह के मुकाबले यह समूह उत्पादन के साथ एक भिन्न सम्बन्ध *वास्तव में* कायम करता है। तब, स्त्रियों को हम मोटे तौर पर लोगों के एक ऐसे समूह के रूप में परिभाषित करेंगे जो घर-परिवार से जुड़े कामों में मात्र उपयोग मूल्य के उत्पादन के लिए जिम्मेदार होता है।

इस प्रकार के उत्पादन में चूंकि पुरुष कोई जिम्मेदारी नहीं उठाते, अत: दोनों समूहों के बीच अन्तर का मुख्य कारण इस चीज में होता है। ध्यान देने की जरूरत है कि स्त्रियों को माल उत्पादन से अलग नहीं किया जाता। उजरती श्रम में उनकी भागीदारी होती है परन्तु एक समूह के रूप में इस क्षेत्र में उनका कोई संरचनात्मक दायित्व नहीं बनता और ऐसी भागीदारी को सामान्यत: चलताऊ ढंग से लिया जाता है। दूसरी तरफ माल उत्पादन का दायित्व पुरुषों का होता है, सिद्धान्तत: घर-गृहस्थी के कामों में उन्हें कोई भूमिका नहीं दी जाती। उदाहरण के लिए, यदि वे घरेलू उत्पादन में हिस्सेदारी करते भी हैं तो इसे महज आपत्तिजनक ही नहीं समझा जाता, इसे मनोबल तोड़ने वाला, पुंसत्वहीन, यहां तक कि स्वास्थ्य के लिए अहितकारी माना जाता है। (जनवरी 1969 में ***वैनकुवर सन*** के मुख्य पृष्ठ पर प्रकाशित एक रिपोर्ट के जरिये यह जानकारी दी गई थी कि ब्रिटेन में पुरुषों का स्वास्थ्य इसलिए चौपट हो गया था क्योंकि उन्हें बहुत अधिक घर-गृहस्थी का काम करना पड़ रहा था)।

स्त्रियों की इस निम्नतर स्थिति का भौतिक आधार स्त्री की ठीक इसी परिभाषा में ढूंढ़ा जा सकता है। एक ऐसे समाज में जहां मुद्रा मूल्य का निर्धारण करती है, स्त्री एक ऐसी कोटि है जो मुद्रा अर्थशास्त्र की परिधि के बाहर काम करती है। उसके कामों को मुद्रा से नहीं आंका जाता अत: वह मूल्यहीन होता है, यहां तक कि वह वास्तविक काम भी नहीं माना जाता। और ऐसे मूल्यहीन काम को अंजाम देने वाली खुद औरतों की हैसियत को उन पुरुषों के समकक्ष मानने की बात सोची ही नहीं जा सकती जो मुद्रा के बदले में काम करते हैं। संरचनात्मक रूप में, औरतों की इस स्थिति के सर्वाधिक निकट उन लोगों की स्थिति भी होती है जो माल उत्पादन के दायरे से बाहर थे या हैं जैसे कि भूदास और किसान।

महिलाओं के बारे में अपने लेख में जूलियट मिशेल ने विषय को इस प्रकार प्रस्तुत किया है, ''विकसित औद्योगिक समाज में स्त्रियों का काम समूची अर्थव्यवस्था के सिर्फ हाशिये पर होता है। जबकि काम के ही जरिये आदमी प्राकृतिक अवस्थाओं को बदल डालता है और इस प्रकार समाज का निर्माण करता है। जब तक उत्पादन में क्रान्ति नहीं होती, श्रम के हालात स्त्रियों की स्थिति को पुरुषों की दुनिया के अन्दर ही निर्धारित करते रहेंगे।''[6] स्त्रियों का काम हाशिये पर होता है, यह बयान इस बात की अविश्लेषित स्वीकारोक्ति है कि औरतों द्वारा किया गया कार्य उस कार्य से भिन्न होता है जिसे पुरुष करते हैं। बेशक, यह काम हाशिये पर पड़ा काम नहीं है। यह बस उजरती श्रम नहीं होता और इसलिए इसकी गणना नहीं की जाती। वे अपने उसी लेख में आगे यहां तक कहती हैं कि ''उत्पादक श्रम के रूप में यदि परिभाषा को निर्धारित किया जाये तो आज भी घरेलू श्रम की विपुल राशि मौजूद है।'' उदाहरण स्वरूप वह कुछ आंकड़े बताती हैं। स्वीडन में प्रतिवर्ष उद्योग में 12900 लाख घण्टे व्यतीत करने वाली औरतों के मुकाबले घरेलू काम करने वाली औरतों का 23400 लाख घण्टे गृहस्थी के कामों में लगता है। चेज मेनह्टटन बैंक का यह आकलन है कि पूरे सप्ताह में एक स्त्री कुल 99.6 घण्टे काम करती है।

बहरहाल, बुनियादी आर्थिक कारकों पर मिशेल कम जोर देती हैं (यूं भी वे अधिकांश मार्क्सवादियों की ''अतिरिक्त रूप से अर्थशास्त्री'' होने की भर्त्सना करती हैं) और उतावलेपन के साथ अधिरचनात्मक कारकों तक पहुंच जाती हैं क्योंकि उनका यह मानना है कि 'औद्योगीकरण का आगमन अभी तक स्त्रियों को मुक्त नहीं कर सका है।'' जिस चीज को देखने में वह चूक जाती हैं वह यह है कि अभी तक किसी भी समाज में घरेलू कामकाज का औद्योगीकरण नहीं किया गया है। एंगेल्स यह स्पष्ट करते हैं कि ''सम्पूर्ण स्त्रियों की मुक्ति की प्रथम पूर्वशर्त है सामाजिक उत्पादन के कामों में समूची स्त्री जाति का नये सिरे से जुड़ाव... और यह केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग के परिणामस्वरूप ही सम्भव हुआ है, जो बड़ी संख्या में स्त्रियों की उत्पादन में भागीदारी को न केवल मुमकिन बनाता है बल्कि उन्हें वास्तव में उत्पादन में खींचना जिसके लिए जरूरी भी होता है। इससे भी अधिक, इसमें घर के निजी कामकाज को भी एक सार्वजनिक उद्योग बना देने की प्रवृत्ति होती है।''[7] इसी परिच्छेद में वह बाद में कहते हैं, ''यहां हम पहले ही इस बात को देख सकते हैं कि जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और घर के निजी कामों तक ही सीमित रखा जायेगा, तब तक स्त्रियों का स्वतंत्रता प्राप्त करना और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असम्भव है और असम्भव ही बना रहेगा।'' मिशेल ने जिस समस्या पर ध्यान नहीं दिया है वह मात्र इतनी ही नहीं है कि स्त्रियों को **मौजूदा** औद्योगिक उत्पादन में खींच लिया जाये बल्कि इससे कहीं अधिक जटिल है और वह है घर-गृहस्थी के निजी उत्पादन के कामों को सार्वजनिक उत्पादन में बदल देना।

घरेलू कामकाज को ''सार्वजरिक उत्पादन'' के रूप में बदलने की बात करते ही बहुतेरे अमेरिकियों के सामने तत्काल ही 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' या एक विशालकाय संस्था की तस्वीर खिंच जायेगी—अनाथाश्रम और सैन्य शिविर के घालमेल वाली एक ऐसी जगह की तस्वीर जहां हम सभी रहने को बाध्य होंगे। इन्हीं वजहों से औद्योगीकरण की प्रकृति को, सरल रूप में और योजनाबद्ध ढंग से स्पष्ट कर देना निहायत जरूरी है।

एक औद्योगिक-पूर्व उत्पादन इकाई ऐसी इकाई होती है जिसमें उत्पादन छोटे पैमाने पर और बार-बार दोहराया जा सकने वाला होता है अर्थात ऐसी छोटी-छोटी इकाइयों की भारी संख्या होती है जिसमें प्रत्येक

इकाई अपने-आप में पूर्ण होती है और सभी इकाइयां बिल्कुल एक जैसी होती हैं। साधारणतया ये उत्पादन इकाइयां किसी न किसी रूप में एक दूसरे से जुड़ी होती हैं। ये बहुउद्देशीय होती हैं और आर्थिक उद्देश्य के साथ-साथ ये धार्मिक, आमोद-प्रमोद सम्बन्धी, शैक्षिक तथा यौन सम्बन्धी कामों को भी पूरा करती हैं। ऐसी स्थिति में किसी व्यक्ति के अभीष्ट सहज गुण, जो उसे प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं, उनकी परीक्षा विशुद्ध रूप से मात्र आर्थिक मानदण्डों की कसौटी पर ही नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए स्वीकृत चारित्रिक विशेषताओं में सम्बन्धी के प्रति उचित व्यवहार अथवा दायित्व निर्वाह में तत्परता जैसी चीजें आती हैं।

मूल रूप से यह उत्पादन विनिमय के लिए नहीं होता। परन्तु मालों का विनिमय यदि पर्याप्त जरूरी हो ही जाता है तो उत्पादन क्षमता में वृद्धि भी आवश्यक हो जाती है। यह क्षमता औद्योगिक उत्पादन में रूपान्तरण के जरिये हासिल होती है और इसमें एक-दूसरे से जुड़ी उत्पादन इकाइयां नष्ट हो जाती हैं। इसकी जगह एक बड़े पैमाने की, बार-बार न दोहराने वाली उत्पादन इकाई ले लेती है जिसका एकमात्र कार्य होता है, आर्थिक कार्य और जहां प्रतिष्ठा अथवा हैसियत आर्थिक दक्षता द्वारा हासिल की जाती है। उत्पादन को युक्तिसंगत बनाया जाता है, व्यापक रूप से इसकी दक्षता और अधिक बढ़ायी जाती है और यह अधिकाधिक सार्वजनिक—समूचे सामाजिक ताने-बाने का एक अंग बन जाता है। मनुष्य की उत्पादक क्षमताओं का अतिशय विस्तार होता है। पूंजीवाद के तहत इन सामाजिक उत्पादन शक्तियों का इस्तेमाल लगभग पूरी तौर से सिर्फ निजी मुनाफे के लिए किया जाता है। इन्हें उत्पादन का *पूंजीकृत* स्वरूप समझा जा सकता है।

यदि हम उपरोक्त बातों को घर-गृहस्थी और बच्चों की देखभाल के कामों में लागू करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि प्रत्येक परिवार, प्रत्येक घर-गृहस्थी ठीक उसी प्रकार एक व्यक्तिगत उत्पादन इकाई, एक पूर्व-पूंजीवादी इकाई होती है जिस प्रकार खेतिहर किसानों या कुटीर बुनकरों की प्राक्-औद्योगिक उत्पादन इकाइयां बनती हैं। यहां प्रमुख विशेषताएं एकदम स्पष्ट होती हैं। बार-बार दोहराया जाना, कुटुम्ब आधारित तथा काम की निजी प्रकृति इनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषताएं होती हैं (अन्य विशेषताओं पर भी नजर डालना दिलचस्प होगा। परिवार के बहुउद्देशीय कार्य, यह तथ्य कि स्त्रियों के लिए अभीष्ट गुण आर्थिक कौशल में निहित नहीं होते, इत्यादि)। बड़े पैमाने के उत्पादन में संक्रमण से उत्पादन की जो युक्तिसंगतता पैदा होती है इस क्षेत्र में वह चीज नहीं हुई है।

औद्योगीकरण अपने-आप में मानव जाति की भलाई के लिए एक बड़ी शक्ति है। शोषण और अमानवीकरण का सम्बन्ध पूंजीवाद से हैं न कि औद्योगीकरण से। पूंजीवाद के अन्तर्गत निजी घरेलू श्रम के सार्वजनिक उद्योग में रूपान्तरण की वकालत करना समाजवादी समाज में इस प्रकार के रूपान्तरण की वकालत करने से एक बिल्कुल भिन्न चीज होती है। समाजवादी समाज में उत्पादक शक्तियां निजी मुनाफे के लिए नहीं बल्कि मानव जाति के कल्याण के लिए काम करती हैं और इसका परिणाम मुक्ति होता है अमानवीकरण नहीं। उस समाज में हम उत्पादन के *समाजीकृत* स्वरूप की बात कर सकते हैं।

ये तकनीकी परिभाषाएं नहीं हैं बल्कि औद्योगीकरण के दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोणों के अन्तर को स्पष्ट करती हैं। घर की देखभाल को सार्वजनिक अर्थव्यवस्था के तहत समाहित करने का हश्र फौजी बैरकों जैसा होगा, यह भय पूंजीवाद का सबसे बड़ा सच है। अगर उत्पादन समाजीकृत हो और इसमें से मुनाफे के उद्देश्य तथा इसके साथ ही पैदा होने वाले श्रम के अलगाव को निकाल दिया जाये तो ऐसा कोई कारण नहीं कि किसी *औद्योगीकृत समाज* में घर के कामों के औद्योगीकरण का परिणाम बेहतर उत्पादन न हो। यानी वर्तमान एकनिष्ठ परिवार के मुकाबले बेहतर भोजन, अधिक आरामदायक परिवेश, बेहतर समझदारी और स्नेह के साथ बच्चों का लालन-पोषण, आदि-आदि।

बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि नवपूंजीवाद के अन्तर्गत घर-गृहस्थी के काम काफी घट गये हैं। यदि इसे सच भी मान लिया जाये तो यह बात संरचनात्मक रूप से प्रासंगिक नहीं है। यदि बहुत अमीर लोगों की बात छोड़ दी जाये, जो घर के कामकाज के लिए नौकर रख लेते हैं, तो ज्यादातर औरतों को घर-गृहस्थी, पति और बच्चों की देखभाल के लिए न्यूनतम आवश्यक श्रम करना ही पड़ता है। यह न्यूनतम काम बिना बच्चों वाली किसी विवाहित स्त्री का प्रति सप्ताह कदाचित 15 से 20 घण्टा समय लेता है और छोटे बच्चों वाली स्त्री के लिए यह न्यूनतम सम्भवत: 70 से 80 घण्टा प्रति सप्ताह होता है।[8] (बच्चों के पालन-पोषण को काम मानने का एक हद तक विरोध भी होता है। इसमें श्रम खर्च होता है अर्थात उपयोग मूल्य का उत्पादन होता है, इस बात को स्पष्टत: तब देखा जा सकता है, जब इसका विनिमय मूल्य निर्धारित हो रहा हो—जब इस काम को आयाओं, परिचारिकाओं, शिशु पालन केन्द्रों अथवा अध्यापिकाओं द्वारा अंजाम दिया जाता है। एक अर्थशास्त्री ने पहले ही इस विरोधाभास की ओर इशारा किया था कि एक व्यक्ति यदि अपनी गृह प्रबन्धिका (हाउस कीपर) के साथ विवाह कर ले तो वह राष्ट्रीय आय को घटाने का काम कर रहा होता है, क्योंकि जो पैसा अब वह उसे देगा, उसकी गणना वेतन के रूप में नहीं की जायेगी)। घर के कामों को न्यूनातिन्यून हद तक काम कर देने पर भी यह महंगा होता है। कम आय वाले परिवारों के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। किसी भी रूप में, घरेलू काम संरचनात्मक रूप से वैसा ही बना रहता है—एक निजी उत्पादन की चीज।

परिवार का एक कार्य, जिसके बारे में हमें विद्यालय में सिखाया जाता है और जिसे आमतौर पर स्वीकृति मिली होती है, भावनात्मक जरूरतों को पूरा करना है : आत्मीयता की, सामुदायिक सहजीवन और गर्माहट भरे निरापद रिश्तों की जरूरतों को पूरा करना। यह समाज इस तरह की जरूरतों को पूरा करने के दूसरे तरीके भी मुहैया कराता है। उदाहरण के लिए, काम के रिश्तों और मित्रता के सम्बन्धों को इतना महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता जितना एक पति-पत्नी और बच्चे का सम्बन्ध। यहां तक कि सम्बन्धों के अन्य सूत्र उत्तरोत्तर गौण होते जाते हैं। परिवार का यह कार्य उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक इसलिए होता है जिससे कि ऊपर चर्चित दूसरे, शुद्ध रूप से आर्थिक, काम को पूरा कर सके। एक वेतनभोगी, पति-पिता अपनी कमाई पर खुद निर्भर रहता है, मां-पत्नी द्वारा किये गये श्रम का भी "मूल्य चुकाता" है और बच्चों की परवरिश करता है। एक पुरुष को दिया जाने वाला वेतन दो व्यक्तियों के श्रम को खरीदता है। परिवार के इस दूसरे काम के अतिशय महत्व को तब देखा जा सकता है जब पारिवारिक इकाई वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद के चलते बिखर जाती है। ऐसे परिवार में अगर बच्चे हों तो आर्थिक काम की निरन्तरता मुख्य सरोकार बन जाता है। यहां पुरुष को स्त्री के श्रम का मूल्य चुकाते रहना होता है। उसका वेतन दूसरे परिवार का बोझ उठाने के लिए बहुधा अपर्याप्त होता है। ऐसे मामले में उसकी भावनात्मक जरूरतें अपनी पूर्व पत्नी और बच्चों के भरण-पोषण की जरूरतों की वेदी पर बलिदान हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो आपसी विरोध की स्थिति में परिवार की आर्थिक जरूरतें भावनात्मक जरूरतों के बहुधा आगे चलती हैं। और वह भी उस समाज में जो यह सिखाता है कि परिवार का मुख्य काम भावनात्मक जरूरतों को पूरा करना है।[9]

एक आर्थिक इकाई के रूप में, एकनिष्ठ परिवार पूंजीवादी समाज

के तहत स्थायित्व लाने वाली एक महत्वपूर्ण शक्ति होती है। घर में किये जाने वाले उत्पादन का मूल्य चूंकि पति-पिता की आय से चुकाया जाता है इसलिए बाजार से अपने श्रम को बचा रखने की उसकी क्षमता बहुत घट जाती है। नौकरी बदलने की उसकी आजादी भी संकुचित हो जाती है। बाजार की अर्थव्यवस्था में एक सक्रिय हैसियत से वंचित कर दी गई स्त्री का अपने जीवन को निर्धारित करने वाली परिस्थितियों पर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। उसकी आर्थिक परनिर्भरता उसकी भावनात्मक परावलम्बिता, निष्क्रियता और दूसरे अन्य ''ठेठ'' स्त्री सुलभ गुणों के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। वह परम्परावादी, भीरु और यथास्थितिवाद की समर्थक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त, परिवार का ढांचा इस प्रकार का होता है कि यह एक आदर्श उपभोग इकाई होता है। परन्तु स्त्री-मुक्ति साहित्य में व्यापक रूप से चर्चित इस तथ्य का यह अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए कि उपभोग करना परिवार का प्राथमिक कार्य होता है। यदि उपरोक्त विश्लेषण सही है तो घर-गृहस्थी और बच्चों की परिवरिश के लिए परिवार को प्रथमतः एक उत्पादन इकाई के रूप में देखा जाना चाहिए। पूंजीवादी समाज में *प्रत्येक व्यक्ति* एक उपभोक्ता है; परिवार के ढांचे का सिर्फ इतना ही तात्पर्य है कि यह उपभोग को प्रोत्साहित करने के एकदम उपयुक्त होता है। स्त्रियां वाकई विशेष रूप से अच्छी उपभोक्ता होती हैं। घर के मामलों के प्रति उनकी जिम्मेदारी उन्हें ऐसा बना देती है। इसके अलावा, औरतों की निम्नतर हैसियत, अपनी योग्यता और पहचान के एक मजबूत अहसास की सामान्य कमी के चलते पुरुषों के मुकाबले उनका अधिक शोषण किया जा सकता है और इसीलिए वे बेहतर उपभोक्ता होती हैं।

अर्थशास्त्र के औद्योगीकृत क्षेत्र में स्त्रियों का इतिवृत्त उस क्षेत्र की सिर्फ श्रम आवश्यकताओं पर आश्रित रहा है। वे श्रम की एक विशाल आरक्षित सेना के रूप में काम करती हैं। जब श्रम दुर्लभ होता है (जैसे आरम्भिक औद्योगीकरण, दो विश्वयुद्धों इत्यादि के दौर में) तो औरतें श्रम शक्ति का महत्वपूर्ण हिस्सा होती हैं। जब श्रम की मांग कम रहती है (जैसे नवपूंजीवाद के आज के दिनों में) स्त्रियों का श्रम अतिरिक्त श्रम शक्ति के रूप में फाजिल हो जाता है—जिसके लिए आर्थिक रूप से उनके पति जिम्मेदार होते हैं, समाज नहीं। ''घर के प्रति भक्ति'' की यह सनक अतिरिक्त श्रम की इस अवधि में खुद को पुनः प्रकट करती है और औरतों को बाजार अर्थव्यवस्था से बाहर खदेड़ने का माध्यम बन जाती है। यह अपेक्षाकृत आसान होता है, क्योंकि प्रचलित विचारधारा इस बात को सुनिश्चित करती है कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, श्रम में स्त्रियों की भागीदारी को बहुत गम्भीरतापूर्वक न ले। हमें यह सिखाया जाता है कि औरतों का वास्तविक काम घर के भीतर होता है और चाहे वे विवाहित हों, या अविवाहित, अकेली हों या पारिवारिक, जीवन में घर-गृहस्थी की मुखिया हों या न हों—यह बात सभी स्त्रियों पर लागू होती है।

हर-हमेशा घर-गृहस्थी के कामकाज औरतों की जिम्मेदारी होती है। जब वे घर से बाहर काम पर निकलती हैं तो नौकरी के साथ घर-गृहस्थी का काम भी उन्हें ही सम्भालना (या अपने स्थानापन्न के रूप में काम कर रहे व्यक्ति से अपनी निगरानी में कराना) पड़ता है। बाहर काम करने वाली औरतें, विशेषकर बाल-बच्चेदार और विवाहित स्त्रियां, वस्तुतः दो-दो नौकरियां कर रही होती हैं। श्रम शक्ति में हिस्सेदारी की उन्हें अनुमति तभी मिलती है जब वे घर की अपनी जिम्मेदारी को पूरा करती रहें। रूस और पूर्वी यूरोप के उदाहरण से यह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है कि स्त्रियों की श्रम शक्ति में भागीदारी का अवसर यदि बढ़ा दिया जाये तो उसी समानुपात में उनकी मुक्ति का दायरा नहीं बढ़ जाता। घर के बाहर काम करने के अवसर की समान उपलब्धता हालांकि स्त्रियों की मुक्ति की एक पूर्वशर्त है पर यह उन्हें बराबरी का दर्जा देने के लिए अपने-आप में काफी नहीं होती। जब तक घर का कामकाज निजी उत्पादन का मामला बना रहता है और यह औरतों का दायित्व होता है तब तक उन्हें दोहरे काम का बोझ उठाना पड़ेगा।

स्त्री मुक्ति की एक दूसरी पूर्वशर्त, जो उपरोक्त विश्लेषण से निकल कर आती है, निजी उत्पादन के रूप में घर में सम्पन्न हुए कामों का सार्वजनिक अर्थव्यवस्था के तहत किये जाने वाले कामों में रूपान्तरण है।[10] यदि और भी स्पष्ट रूप से कहा जाये तो इसका तात्पर्य यह है कि बच्चों की परवरिश सिर्फ मां-बाप का दायित्व नहीं होना चाहिए। इसकी जिम्मेदारी उठाने के लिए समाज को आगे आना होगा। पति और पिता पर स्त्रियों और बच्चों की आर्थिक परावलम्बिता का अन्त होना चाहिए। घर-गृहस्थी के दूसरे कामों का भी इसी प्रकार रूपान्तरण होना चाहिए—उदाहरणस्वरूप, सामुदायिक भोजनालयों और सार्वजनिक लाण्ड्रियों में। ऐसे कार्यों का सार्वजनिक क्षेत्र में स्थानान्तरण स्त्रियों के खिलाफ भेदभाव के भौतिक आधार को समाप्त कर देगा।

यह पूर्वशर्तें मात्र हैं। यह विचार कि स्त्रियों की हैसियत निचले स्तर की होती है, समाज में गहरे जड़ जमाये हुए है और इसे उखाड़ फेंकना एक भगीरथ प्रयास की मांग करता है। परन्तु एक बार इन दोनों को, जो ऐसे विचार पैदा करते हैं और उन्हें सम्बल देते हैं, बदल दिया जाये तभी, और सिर्फ तभी जाकर हम इस दिशा में आगे बढ़ने की उम्मीद कर सकते हैं। उदाहरण के लिए सामुदायिक भोजनालय में रूपान्तरण का सीधा सा अर्थ है कि स्त्रियां घर के रसोई घर की जगह सामुदायिक रसोईघर में काम करें और ऐसा सम्भव है। यह निश्चित रूप से एक आगे बढ़ा हुआ कदम होगा, विशेषकर एक समाजवादी समाज में, जहां कामों में अन्तर्निहित वह शोषणकारी प्रकृति नहीं होगी जैसी कि आज है। घरों में निजी उत्पादन से औरतें एकबारगी मुक्त हो जायें तो लैंगिक आधार पर कामों के एक कठोर निर्धारण को लम्बे समय तक बनाये रखना शायद बहुत कठिन होगा। यह ऊपर चर्चित दोनों पूर्वशर्तों के बीच के अन्तरसम्बन्धों को दर्शाता है। घर-गृहस्थी के कामकाज से मुक्ति के बिना नौकरी के अवसर में एक सच्ची बराबरी कदाचित असम्भव है और घरेलू कार्यों का औद्योगीकरण भी तब तक नहीं हो सकता जब तक स्त्रियां घर से बाहर निकल कर काम पर नहीं जातीं।

औरतों को घर की चारदीवारी से बाहर निकालने के लिए आवश्यक उत्पादन की प्रकृति में बदलाव, पूंजीवाद के तहत सिद्धान्त रूप में सम्भव दीखता है। स्त्री मुक्ति आन्दोलनों के मूल कारणों में से एक तथ्य यह है कि घरेलू उत्पादन का वैकल्पिक पूंजीकृत स्वरूप इस समय अस्तित्व में है। घर और बच्चों की दैनिक देखभाल के साधन नाकाफी और कदाचित मंहगे होने के बावजूद उपलब्ध रहते हैं। भोजन की सुविधा मिलती रहती है, होम डिलीवरी की सुविधा, घर से खाना कार्यस्थल तक पहुंचाने की व्यवस्था व्यापक रूप से प्रचलित है। धुलाई घर और सफाई करने वाले थोक के दर से अपनी सेवाएं देते हैं। फिर भी आम तौर पर ऊंची कीमतें इन सुविधाओं का पूरी तरह लाभ उठाने से वर्जित करती हैं। और साथ ही ऐसी सुविधाएं हर जगह उपलब्ध भी नहीं होतीं, अमेरिका जैसी जगहों पर भी नहीं। तब ऐसी स्थिति में इन्हें सम्पूर्णता हासिल कर चुकी संरचनाओं के रूप में नहीं बल्कि सम्भवतः इनकी मौजूदगी को भ्रूण रूप में देखना चाहिए। बहरहाल, वे इस प्रकार के कामों को अंजाम देने की वर्तमान व्यवस्था का स्पष्ट रूप से विकल्प प्रस्तुत करते हैं। खासकर अमेरिका में, जहां ''सेवा उद्योगों'' में वृद्धि अर्थव्यवस्था के विकास को बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण होती है, इन विकल्पों के बीच अन्तरविरोध और स्त्रियों

को घर की चारदीवारी में कैद रखने की जरूरत भी बढ़ती जाती है।

औरतों को घर में रोक रखने की जरूरत वर्तमान व्यवस्था के दो मुख्य पहलुओं से पैदा होती है। पहला, स्त्रियों द्वारा किये गये अवैतनिक श्रम की मात्रा अत्यन्त विशाल होती है और उनके लिए बहुत लाभकारी होती है जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रहता है। औरतों को चाहे न्यूनतम मजदूरी दर पर ही सही, उनके कामों का मूल्य देने का अर्थ है सम्पदा का एक व्यापक पुनर्वितरण। वर्तमान अवस्था में, परिवार का भरणपोषण वेतनभोगी कर्मचारी पर लगा प्रच्छन्न कर होता है—उसका वेतन दो व्यक्तियों के श्रम को खरीदता है। और दूसरा, मौजूदा व्यवस्था के सामने यह समस्या होती है कि अर्थव्यवस्था को क्या पर्याप्त रूप से विस्तारित किया जा सकता है कि वह सभी औरतों को काम में सामान्य तौर पर नियुक्त श्रम शक्ति के अंग के रूप में समेट ले। युद्ध के दौर की अर्थव्यवस्था आंशिक रूप से तो औरतों को अर्थतंत्र में खींचती रही थी परन्तु सभी अथवा बहुतेरी स्त्रियों को इसमें समेटने की जरूरत के हिसाब से यह काफी नहीं थी। यदि यह तर्क दिया जाता है कि गृहस्थी कार्य के औद्योगीकरण के फलस्वरूप उपजे रोजगार से यह जरूरत पैदा होगी तो इसके खण्डन के रूप में (i) यथास्थिति को कायम रखने व पूंजीकरण के विरुद्ध काम करने वाली मजबूत आर्थिक ताकतों का और (ii)इस तथ्य का हवाला दिया जा सकता है कि इन ताकतों की कुछ हद तक काट प्रस्तुत करने वाले वर्तमान सेवा उद्योग बढ़ती हुई श्रम शक्ति के साथ कदम मिलाने में अक्षम रहे हैं। सेवा उद्योगों में मौजूदा रुझान घर में ''रोजगार की कमी'' पैदा करते हैं, वे औरतों के लिए नये रोजगार उपलब्ध नहीं कराते। जब तक ऐसी स्थिति मौजूद रहती है, औरतें औद्योगिक आरक्षित सेना का एक अत्यन्त सुविधाजनक और लचीला अंग बनी रहती हैं। उन्हें समानता की शर्तों पर श्रम शक्ति में समाहित करना—जो घर के कामों के पूंजीकरण के लिए दबाव निर्मित करता है—तभी सम्भव है जब नव पूंजीवाद के अन्तर्गत अभी तक हासिल अर्थव्यवस्था का विस्तार हो, जब पूरी तरह से युद्ध लामबन्दी की स्थिति हो।

इसके अतिरिक्त, इन संरचनागत परिवर्तनों का अर्थ होगा कि वर्तमान नाभिकीय परिवार पूरी तरह टूट जाये। परिवार का स्थायीकृत उपभोग का काम, साथ ही साथ श्रम मण्डी से औरतों को बाहर रखने की गृहस्थी धर्म की क्षमता नवपूंजीवाद से आसानी से छुटकारे की इजाजत नहीं देती। इससे कुछ कम बुनियादी स्तर की बात यह है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत घरेलू उत्पादन की प्रकृति में यदि इन आवश्यक परिवर्तनों को संभव बना भी दिया जाये तो इसका एक अप्रीतिकर परिणाम होगा, *समस्त* मानव सम्बन्धों का आना-पाई से बंध जाना। पश्चिमी देशों में लोगों का अलग-थलग पड़ना और एकाकीपन पहले ही से इस कदर बढ़ा हुआ है कि इस प्रकार के सम्पूर्ण मानसिक अलगाव को झेल पाना संभव भी हो पायेगा, इसमें संदेह है। तब वास्तव में इस बात की पूरी संभावना रहती है कि स्त्री मुक्ति आंदोलन के प्रति एक नकारात्मक भावुक प्रतिक्रिया के मूल में यह भय काम करता हो। ऐसी स्थिति में संभावित विकल्पों—सहकारी व्यवस्था आदि के उदाहरण से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि सहजीवन और स्नेह की भावनात्मक जरूरत वास्तव में बेहतर ढंग से पूरी तब की जा सकेगी जब दूसरी संरचनाएं नाभिकीय परिवार का स्थानापन्न बनें।

घर के कामकाज का पूंजीकरण अधिक से अधिक यही कर सकता है कि स्त्रियों को उतनी सीमित आजादी मुहैया करा दे जितनी अधिकांश पुरुषों को इस पूंजीवादी समाज में मिली हुई है। परन्तु इसका अर्थ यह हरगिज नहीं है कि स्त्रियां विभेदीकरण से मुक्ति की मांग ही न करें। हम औरतों की निम्नतर हैसियत का भौतिक आधार होता है। हमारे साथ सिर्फ भेदभाव ही नहीं बरता जाता, हमारा शोषण भी किया जाता है। आज घर-गृहस्थी में लगा हमारा अवैतनिक श्रम इस समूची व्यवस्था के काम करते रहने के लिए आवश्यक है। और ऐसी औरतों द्वारा निर्मित दबाव, जो अपने घर-संसार की भूमिका को चुनौती देती हैं, निश्चित ही इस शोषण की प्रभाविता को कम कर देगा। इसके साथ ही, ये चुनौतियां परिवार के ढांचे को बनाये रखने में बाधक होंगी और सामाजिक श्रम से औरतों के बाहर ठेल दिये जाने को इतना आसान नहीं रहने देंगी। उम्मीद है कि ये तमाम चीजें एक ऐसे समाज में संक्रमण को और तेजी के साथ संभव बनायेंगी जहां उत्पादन में आवश्यक संरचनात्मक परिवर्तन वास्तव में किया जा सकेगा। मुझे इसमें कतई संदेह नहीं कि इस रूपान्तरण के लिए क्रान्ति की जरूरत होगी। हमारा कार्यभार यह सुनिश्चित करना है कि समाज में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन स्त्री उत्पीड़न का वास्तव में खात्मा कर डाले।

टिप्पणियां

1. मार्लीन डिक्सन, ''स्त्रियों की गौण सामाजिक हैसियत'' अप्रकाशित, शिकागो, 1969

2. निस्संदेह शरीर विज्ञान के तर्क का इस्तेमाल पहले किया जाता है, परन्तु समाजवादी लेखक इसे गंभीरता से नहीं लेते। मार्गरेट मीड की किताब 'सेक्स एंड टेम्परामेंट' जीव विज्ञान के मुकाबले संस्कृति के महत्व को दर्शाने वाला प्रारम्भिक बयान है।

3. यह समूह या संवर्ग पर समग्रता में लागू होता है। व्यक्ति के रूप में औरतें स्वयं को खुद के समाजीकरण से काफी हद तक मुक्त कर सकती हैं और मुक्त करती हैं (और अनुकूल मामलों में वे आर्थिक स्थिति के मुताबिक भी खुद को ढाल लेती हैं) परन्तु अधिकांश स्त्रियों को यह अवसर उपलब्ध नहीं होता।

4. अर्नेस्ट मेण्डल, ''नव पूंजीवाद में मजदूर वर्ग'' साइमन फ्रेजर विश्वविद्यालय में पढ़ा गया पेपर

5. अर्नेस्ट मेण्डल *मार्क्सवादी आर्थिक सिद्धान्त का एक परिचय* (न्यूयार्क : मेरिट पब्लिशर्स, 1967), पृ. 10-11

6. जूलियट मिशेल ''स्त्रियां : सबसे लम्बी क्रान्ति'' *न्यू लेफ्ट रिव्यू*, दिसम्बर 1966

7. फ्रेडरिक एंगेल्स, *परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति* (मास्को, प्रगति प्रकाशन, 1968) अध्याय IX. एंगेल्स को जो मानव विज्ञानीय साक्ष्य उपलब्ध थे वह पुरुषों पर आदिम स्त्रियों के वर्चस्व को इंगित करते थे। आधुनिक मानव विज्ञान इस वर्चस्व पर विवाद खड़ा करता है परन्तु एंगेल्स द्वारा दृष्टान्त स्वरूप लिये गये मातृवंशीय समाज में औरतों को लगभग समान हैसियत का प्रमाण प्रस्तुत करता है। एंगेल्स की इस कृति में दिया गया तर्क पूर्व वर्चस्व को जरूरी नहीं बल्कि महज उनकी पूर्व बराबरी को जरूरी समझता है। अत: निष्कर्ष अपरिवर्तित ही रहता है।

8. ये आंकड़े आसानी से निकाले जा सकते हैं। उदाहरण के लिए सन्तानरहित विवाहित स्त्री से प्रतिसप्ताह रसोई और बर्तन (10 घण्टे) घर की सफाई (4 घण्टे) व कपड़ों की धुलाई (1 घण्टा) की अपेक्षा की जाती है। ये आंकड़े वह न्यूनतम समय दर्शाते हैं जो ऐसे कामों के लिए प्रति सप्ताह आवश्यक होता है। कुल समय 16 घण्टे, कदाचित अविश्सनीय रूप से कम है, बावजूद इसके, सप्ताह में पूरा किये गये नियमित काम के यह आधे के निकट होता है। छोटे-छोटे बच्चों वाली मां को लगभग 12 घण्टे रोज काम करते हुए प्रति सप्ताह कम से कम 6 या 7 दिन खर्च करना पड़ता है।

9. इस प्रकार की शिक्षा के प्रमाण के लिए परिवार के बारे में किसी हाई स्कूल की पुस्तक देखिये।

10. इसके बारे में एंगेल्स के अतिरिक्त उस दौर के अन्य मार्क्सवादी लेखकों ने भी स्पष्ट रूप से बताया है। पाठ में एंगेल्स से उद्धृत बातों का संदर्भ दिया गया है। लेनिन के उद्धरण ''स्त्रियों की मुक्ति के बारे में'' से लिये गये हैं।

अनुवाद : मीनाक्षी

मई दिवस के शहीदों की स्मृतियों से गुजरते हुए

■ लेसली विस्कमैन

आठ घंटे काम के दिन की मांग को लेकर दुनिया भर के मजदूरों के दशकों चले संघर्ष और अनगिनत कुर्बानियों के बाद यह मांग मानी गई थी। आज जब भूमण्डलीकरण के बुलडोजर से मजदूर आन्दोलन की समस्त उपलब्धियों को रौंदा जा रहा है, मजदूरों से 12-12, 14-14 घंटे काम लेकर जीने भर की मजदूरी नहीं दी जा रही है और मजदूरों को बेजुबान औजारों में तब्दील करने की कोशिश की जा रही है तो शिकागो के उन वीर मजदूर नायकों की याद प्रेरणादायी है जिन्होने आठ घंटे काम के दिन की लड़ाई में अपनी शहादत से मजदूरों को उनका लाल झण्डा और मई दिवस का त्योहार दिया।

4 मई, 1970. प्रदर्शनकारी छात्रों के एक समूह पर ओहायो के नेशनल गार्ड पलट कर गोलियों की बौछार करते हैं। चार छात्र मारे जाते हैं और नौ घायल हो जाते हैं। प्रतिक्रियास्वरूप देश भर में एक जबर्दस्त शोर उठ खड़ा होता है—एक छोटा सा हिस्सा राज्य समर्थित हत्या की भर्त्सना करता है परन्तु विशाल बहुसंख्यक आबादी ''कानून और व्यवस्था'' को बनाये रखने की सराहना करता है।

वियतनाम युद्ध के विरोध ने, जिसमें छात्रों ने एक अहम भूमिका निभाई, देश को विभाजित कर दिया था। अधिकारियों ने जनता का मुंह बन्द करने के लिए कुछ एक को मौत के घाट उतार देने की चिरकाल से चली आ रही परम्परा का आश्रय लिया और हर हमेशा की तरह यह रणनीति काम आई। केन्ट राज्य शीर्ष पर पहुंचे छात्रों के विरोध आन्दोलन का गवाह बना।

यह विडम्बना ही है कि जिस समय नेशनल गार्ड केन्ट राज्य में छात्रों को गोलियों से भून रहे थे, मेयर रिचर्ड डेली उस हे मार्केट स्क्वैयर पुलिस मेमोरियल का पुन: उद्घाटन कर रहे थे जिसे एस.डी.एस. से जुड़े रैडिकल तत्वों ने 6 अक्टूबर 1969 को बम का निशाना बनाया था। ''4 मई, 1886 के उपद्रव में अपने रखवालों को.... शिकागो द्वारा समर्पित'' हे मार्केट स्क्वैयर मेमोरियल कानून के रखवाले अधिकारियों का सम्मान कर रहा था जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में फूट पड़ने वाले मजदूर आन्दोलन को कुचलने के लिए दमन चक्र चलाया था।

1850 के दशक में, 8 घण्टे कार्य दिवस की मांग के इर्दगिर्द लगातार बढ़ती तादाद में मजदूर संगठित होने लगे थे। देश भर में 'आठ घंटा लीग' नाम के सैकड़ों संगठन पैदा हो गये। दबाव में आकर इलिनॉय जनरल एसेम्बली ने मार्च 1867 में 8 घण्टे को 'इलिनॉय राज्य में वैधानिक कार्य दिवस'' घोषित कर दिया। परन्तु मजदूरों को 10,12 और 14 घण्टे तक काम में लगे रहना पड़ता था। यदि कोई मजदूर इतने लम्बे समय तक काम करने से इंकार करता था तो उसकी जगह लेने के लिए बेरोजगारों की स्थायी भीड़ मौजूद रहती थी।

फेडरेशन आफ आर्गनाइज्ड ट्रेड एंड लेबर (जो बाद में अमेरिकन फेडरेशन आफ लेबर बना) ने 8 घण्टे कार्य दिवस को लागू करने की अन्तिम समयसीमा 1 मई, 1886—प्रथम मई दिवस—को घोषित कर दिया। मई के उस दिन, 12,000 कारखानों के 340,000 मजदूर, टेरेन्स पाउडरली व 'नाइट्स आफ लेबर' के राष्ट्रीय नेतृत्व के विरोध के बावजूद, देशव्यापी हड़ताल में उतर पड़े। 'शिकागो नाइट्स' ने, जिसपर अलबर्ट पार्सन्स का प्रभाव था, इस निर्णय का पुरजोर समर्थन किया।

पहली मई को अलबर्ट पार्सन्स अपनी पत्नी और दो बच्चों को साथ लेकर शिकागो की सड़कों पर 80,000 लोगों के जुलूस की अगवाई कर रहे थे। जिन 1500 मजदूरों को मैकार्मिक प्लाण्ट में तालाबंदी के कारण 16 फरवरी से ही नौकरी से निकाल बाहर किया गया था उनमें से बहुतेरे इस जुलूस में शामिल हो गये। पुलिस के सिपाही और पिंकरटन (पूंजीपतियों के भाड़े के गुंडे) के आदमी ऊंची छतों से रायफलें ताने इस जुलूस को देख रहे थे। परन्तु पार्सन्स, आगस्ट स्पाइस और दूसरे लोगों के जोशीले भाषणों को सुनने के बाद उत्साहित भीड़ बिना किसी हादसे के छंट गई। दो दिनों के अन्दर-अन्दर लगभग पैंसठ से अस्सी हजार शिकागो के मजदूर हड़ताल पर चले गये।

3 मई को *आरबिटर जाइटुंग* के सम्पादक, आगस्ट स्पाइस ने लकड़ी कारखाने के 6000 हड़ताली मजदूरों की भीड़ को सम्बोधित किया, जो मैकार्मिक कारखाने के पास सभा कर रहे थे। जैसे ही शिफ्ट की घंटी बजी भीड़ से निकल कर कुछ लोग मैकार्मिक के हड़ताल भेदियों को फटकारने और लानत-मलामत करने के लिए गेट की ओर बढ़ने लगे। लगभग उसी समय पुलिस इंस्पेक्टर जॉन बानफील्ड आ पहुंचा और गड़बड़ी शुरू हो गयी। क्या हो रहा है यह देखने के लिए स्पाइस जैसे ही वहां पहुंचा उसने खुद को पुलिस की चलती लाठियों और गोलियों की बौछार में घिरा पाया। मारे गये और जख्मी हुए मजदूरों की ठीक-ठीक संख्या का कभी भी विश्वसनीय रूप से पता नहीं किया जा सका। कई इतने भयभीत हो गये थे कि उन्होंने डाक्टरी भी नहीं करायी।

क्रोध से धधकता स्पाइस भाग कर अपने कार्यालय पहुंचा और वहां ''मजदूरो, हथियार सम्भालो'' शीर्षक से उसने एक गुस्से से भरपूर पर्चा लिखा। एक कम्पोजीटर ने उसमें मोटे अक्षरों में ''प्रतिशोध!'' शब्द इस ख्याल के साथ जोड़ दिया कि इससे शीर्षक और भी बढ़िया बन पड़ेगा। इस तथाकथित ''प्रतिशोधी पर्चे'' की कोई 1500 प्रतियां बांटी गईं। शिकागो के क्रुद्ध मजदूर **आरबिटर जेतंग** के 4 मई के अंक में स्पाइस के मैकार्मिक हादसे का ब्यौरा पढ़ कर और भी आगबबूला हो उठे; इसी अंक में लिखा गया माइकेल श्वैब का एक लेख भी इस बात का ऐलान कर रहा था कि ''वर्गों का युद्ध सन्निकट है।''

इसी बीच एडोल्फ फिगर और जार्ज एंजेल सहित नेतृत्व के एक समूह ने उसी शाम हे मार्कट में एक रैली आयोजित की। वक्ताओं को लाने व पर्चा छपवाने की जिम्मेदारी फिशर की थी। मूल पर्चे के अन्त में यह आह्वान किया गया था ''मेहनतकश लोगो, हथियारबंद होकर पूरी ताकत के साथ शामिल हो।'' परन्तु आगस्ट स्पाइस भाषण देने के लिए राजी तभी हुआ जब इस पंक्ति को काट दिया गया। पर्चे की दूसरी प्रतिलिपि तैयार की गई फिर भी कुछ पहले वाले पर्चे बांटे जा चुके थे।

उस रात करीब 2500 लोग इकट्ठा हुए

थे। एडोल्फ फिशर थोड़ी देर वहां ठहरा और फिर कुछ पीने के लिए जेफ हाल की तरफ बढ़ गया जार्ज एंजेल अपनी पत्नी और कुछ दोस्तों के साथ ताश खेलने के लिए घर पर ही रुक गया। जब कोई वक्ता नहीं आया तो भीड़ में बेचैनी बढ़ने लगी।

स्पाइस साढ़े आठ बजे के करीब पहुंचा। उसे जर्मन भाषा में भाषण देना था। चूंकि विदेशी भाषणों की पारी सामान्तया सबसे अन्त में आती थी इसलिए स्पाइस को कोई जल्दी नहीं थी। परन्तु जब उसने देखा कि सभा बिखर रही है तो वह तुरन्त एक पुरानी गाड़ी पर चढ़ गया और बोलना शुरू कर दिया। साथीगण उसकी सहायता के लिए भीड़ में अन्य वक्ताओं को तलाशने लगे।

अलबर्ट पार्सन्स जो अभी सिनसिनाटी से लौटा ही था करीब 15 मिनट बाद वहां पहुंच गया और उसने मंच सम्हाल लिया। लगभग 10 बजे पार्सन्स ने बात खत्म की और सैमुअल फील्डेन को बोलने के लिए मंच पर बुलाया फिर वह अपनी पत्नी लूसी के साथ फिशर से मिलने निकट के ढाबे में चला गया।

फील्डेन 4 मई की पूरी दोपहर वाल्ढाइम कब्रिस्तान के मार्ग में बिछाने के लिए कंकरीट ढोने के काम में व्यस्त रहा था और आयोजित सभा की उसे कोई जानकारी नहीं थी, हे मार्केट पहुंचने के कुछ ही देर पहले इस मीटिंग के बारे में उसे पता चला। भाषण की किसी पूर्व तैयारी के बगैर उसने भीड़ को बांधने की पूरी कोशिश की। वह अपनी बात को समेट ही रहा था कि पुलिस इंस्पेक्टर बोनफील्ड और उसके 180 आदमी नामुदार हुए।

बोनफील्ड ने सभा को तत्काल और शान्तिपूर्ण तरीके से भंग करने का आदेश दिया। अभी फील्डेन ने यह जवाब दिया ही था कि ''कैप्टेन, हम शान्ति बनाये हुए हैं'' कि भीड़ में एक धमाका हुआ। पुलिस की कतारों पर बम फेंका गया था। पुलिस ने अंधाधुंध फायरिंग शुरू कर दी। जब तक यह सब खत्म हुआ 7 सिपाही और 4 नागरिक मारे जा चुके थे। सौ से दो सौ की संख्या में पुलिस वाले और नागरिक घायल हुए थे। घायल होने वालों में सैमुएल फील्डेन और आगस्ट स्पाइस का भाई भी थे। सिर्फ एक सिपाही मैथियास डेगन की बम विस्फोट से मौत हुई थी, शेष पुलिस की गोलियों से जख्मी हुए थे।

एक अनजान पुलिसवाले ने 27 जून को शिकागो *ट्रिब्यून* को बताया कि, ''मैं इस तथ्य से वाकिफ था कि पुलिसकर्मियों की भारी संख्या एक दूसरे की बन्दूकों से चली गोलियों से जख्मी हुई थी... यह उस आदमी की भारी गलती की वजह से हुआ जो हे मार्केट पर हत्या वाली रात को पुलिस वालों को निर्देश दे रहा था अन्यथा ऐसा भयानक कत्लेआम नहीं हुआ होता। बोनफील्ड ने यह भंयकर भूल की थी और इसके लिए वहां घायल प्रत्येक व्यक्ति ने उसे जिम्मेदार माना।''

बम किसने फेंका था यह रहस्य बना हुआ था। पुलिस का यह दावा था कि यह किसी अराजकतावादी ने किया था, अलबर्ट पार्सन्स यह मानता था कि किसी उकसावेबाज दलाल का यह काम था। गवर्नर जान एल्टजेल्ड 1893 में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ''पूरी संभावना इस बात की है कि बम किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा फेंका गया हो जो अपना व्यक्तिगत बदला निकालना चाहता था।''

गहन अध्ययन के बाद लिखी अपनी किताब में पाल एवरिच इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि बम किसी अराजकतावादी द्वारा फेंका गया था। इस मामले में सबसे अधिक संदिग्ध समझा जाने वाला व्यक्ति माइकेल श्वैब का बहनोई रूडोल्फ श्नौबेल्ट था। परन्तु एवरिच ने इसे खारिज कर दिया। श्नौबेल्ट बम विस्फोट के बाद दो बार पकड़ा गया और दोनों दफा छोड़ दिया गया।

श्नौबेल्ट का हुलिया जान बरनेट, जो अकेला निष्पक्ष गवाह था और जिसने बम फेंकने वाले को देखा था, द्वारा बताये गये विवरण से मेल नहीं खाता था और एवरिच ने यह स्पष्ट रूप से कहा कि श्नौबेल्ट की स्वयं की गतिविधियां बम फेंकने वाले जैसी नहीं थी। उसका कहना है, ''यदि श्नौबेल्ट ने अपनी जेब में बम रखा हुआ था तो क्या वह वक्ताओं वाली गाड़ी पर खड़ा हुआ होता? इससे भी बड़ी बात है कि क्या इस हादसा के दूसरे ही दिन (माइकेल) श्वैब की रिहाई की कोशिश करने वह पुलिस हेडक्वार्टर गया होता? अकेले यही बात उसके खिलाफ लगे आरोप पर सन्देह पैदा करती है।''

एवरिच का यह निष्कर्ष कि बम फेंकने वाला एक अराजकतावादी था मुख्यत: राबर्ट रीट्जेल और डायर लुम जैसे अराजकतावादियों के बयानों पर आधारित है। (पार्सन्स, फिशर, स्पाइस और एंजेल को–अनु.) फांसी दिये जाने के बाद रीट्जेल ने डा. अर्बन हारटुंग को बताया था कि ''बम फेंकने वाले व्यक्ति को हम जानते हैं, लेकिन छोड़िये इस बात को, उसने यदि इसे कुबूल भी कर लिया होता तो भी हम अपने साथियों की जिन्दगी बचा नहीं पाते।''

डायर लुम 1891 में लिखे गये एक लेख में स्पष्ट करते हैं कि 4 मई की दोपहर अगस्त स्पाइस ने बाल्थसर राऊ को उग्र लड़ाकुओं के पास यह ताकीद करने के लिए भेजा था कि हे मार्केट में किसी तरह का कोई हथियार न लाया जाये। परन्तु, जैसा कि लुम लिखते हैं, ''एक व्यक्ति ने इस निर्देश का उल्लंघन किया था, हमेशा अपने इरादे पर दृढ़, वह कोई भी काम अपनी जिम्मेदारी पर करता और सर झुका कर ''बलि का बकरा'' बन जाने की जगह किसी भी घातक हमले से मुकाबले के लिए तैयार रहने को बेहतर समझता था।''

लुम का कहना था कि मुकदमे के आठ प्रतिवादियों को बम फेंकने वाले व्यक्ति के बारे में कोई जानकारी नहीं थी हालांकि बाद में दो लोगों को उसका पता चल गया था ''लेकिन न स्पाइस और न ही पार्सन्स उस व्यक्ति से परिचित थे''... एवरिच का यह मानना है कि उसे जानने वाले दोनों व्यक्ति एंजेल और फिशर थे। लुम के अनुसार बम विस्फोट करने वाले व्यक्ति की ''चर्चा मुकदमे के दौरान कभी नहीं हुई और आज भी वह लोगों के लिए अनजान है।''

डायर लुम की घनिष्ठ मित्र और प्रसिद्ध महिला अराजकतावादी वोल्टायरिन डि क्लेयेर ने भी बम फेंकने वाले की पहचान के बारे में एक संकेत दिया था। 1899 में इस घटना की याद में अपने भाषण में डि क्लेयेर ने कहा, ''हे मार्केट का बम विस्फोट एक ऐसे व्यक्ति की प्रतिरक्षा की कार्रवाई थी जो इस संवैधानिक घोषणा में यकीन रखता था कि बोलने और शान्तिपूर्ण ढंग से सभा करने की स्वतंत्रता में कोई कांट-छांट नहीं की जा सकती।''

और 1907 में, डि क्लेयेर ने कहा .... ''अब जबकि हमारे साथी मारे जा चुके हैं, मैं नहीं समझती कि बम फेंकने वाले व्यक्ति की पहचान बताने की कोई आवश्यकता है। एक खामोश और अनाम व्यक्ति इस दुनिया से चला गया और अपना निशान छोड़ गया। अब इससे क्या फर्क पड़ता है कि वह व्यक्ति कौन था। इस जुर्म के लिए राज्य ने जिन आठ लोगों को सजा दी उनमें वह नहीं था।''

इन सुराग के आधार पर एवरिच ने यह निष्कर्ष निकाला कि बम फेंकने वाला कदाचित अराजकतावादियों के सैन्य प्रभाग का एक जर्मन सदस्य था जिसके साथ बाल्थसर राउ ने सम्पर्क किया, कि वह आन्दोलन में जाना-पहचाना व्यक्ति था परन्तु कोई महत्वपूर्ण हस्ती नहीं था; कि उग्रवादी अराजकतावादी के एक छोटे से धड़े के सिवाय उसकी पहचान कोई नहीं जानता था और यह कि जॉन बरनेट के साक्ष्य के अनुसार, उसकी लम्बाई पांच फीट नौ या दस इंच थी, उसने मूंछें

रखी हुई थीं लेकिन दाढ़ी सफाचट थी।

एवरिच की पुस्तक के छप कर आने के बाद कैलिफोर्निया के बर्कले शहर से एक मनोवैज्ञानिक डा. एडा मौरर का पत्र उन्हें मिला। उन्होंने किसी ''जे.पी. मेंग'' के बारे में दरयाफ्त की थी। एवरिच ने इसका जिक्र शिकागो के उस अराजकतावादी प्रतिनिधिमण्डल के एक ऐसे सदस्य के रूप में किया है जो 1883 के पीटर्सबर्ग की कांग्रेस में शामिल हुआ था। सुश्री मौरर ने पूछा था कि नाम के प्रथमाक्षरों में किसी गलती की संभावना तो नहीं हुई है क्योंकि उन्हें विश्वास था कि यह उनके नाना जार्ज मेंग का नाम है। मौरर को भी यह शक था कि बम विस्फोट उनके नाना ने किया था।

जांच करने के बाद एवरिच ने यह पाया कि प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य का नाम वास्तव में जार्ज था जे.पी. मेंग नहीं। तब, डा. मौरर की इस आशंका का क्या हुआ कि मेंग ही बम फेंकने वाला व्यक्ति था। एवरिच को डा. मौरर ने निम्नलिखित सूचना दी—मेंग का जन्म 1840 के आसपास बवेरिया में हुआ था और जिस समय वह संयुक्त राज्य अमेरिका पहुंचा वह युवा हो चुका था। वह शिकागो आकर बस गया वहां एक जोतवान के रूप में काम करने लगा, वहीं उसने विवाह किया और उसकी दो बेटियां केट और लुइसा पैदा हुईं। लुइसा ही डा. मौरर की मां थी। 1883 तक आते-आते मेंग इण्टरनेशनल वर्किंग पीपुल्स एसोसियेशन के उग्रवादी नार्थ साइड ग्रुप के साथ जुड़ गया जिसके सदस्य आस्कर नीब, बाल्थसर राउ, रूडोल्फ श्नौबेल्ट और लुइस लिंग्ग थे।

लुइसा ने अपनी बेटी को यह कई बार बताया था कि बम फेंकने वाला व्यक्ति मेंग था, लेकिन वह ऐसा क्यों सोचती थी इस बारे में कुछ नहीं कहा। ''उन्होंने ही यह काम किया था।'' वह कहती। लुइसा उस रात की भी चर्चा करती जब हे मार्केट में बम विस्फोट हुआ था। उस रात विस्फोट के कुछ देर बाद ही उन्होंने देखा कि रूडोल्फ नाम का एक आदमी उनके खत्ते में छिपा हुआ था। रूडोल्फ उनके पिता का कामरेड था और, ''वे पूरी रात रसोईघर में बात करते रहे।''

मॉरर के अनुसार 1907 में उसके जन्म से कुछ वर्ष पूर्व ही मेंग की एक सैलून में आग लगने के दौरान मौत हो गई थी जिससे मेंग का हुलिया बताने में वह असमर्थ थी। फिर भी मौरर की इस कहानी को एवरिच ने विश्वसनीय माना, ''क्योंकि अब तक प्राप्त तथ्यों से यह मेल खाता है। उदाहरण के लिए, इसमें रूडोल्फ श्नौबेल्ट सम्बन्धी ऐसी सूचना का हवाला मिलता है, साधारणतया, जिसके बारे में लोगों को जानकारी नहीं है और यह विवरण के उस खांचे में फिट बैठता है जैसा कि एक जर्मन अराजकतावादी, डायर लुम ने बम फेंकने वाले व्यक्ति के विषय में दिया था—शिकागो के ग्रुपों में एक 'पक्के इरादे' वाला उग्रवादी व्यक्ति, आन्दोलन में एक जाना-पहचाना नाम—परन्तु जिसकी गिनती प्रमुख नेताओं में नहीं होती थी और मुकदमे में जिसका जिक्र नहीं आया था। डा. मौरर की कहानी में सत्य का अंश है और मुझे इस पर विश्वास है।

बम फेंकने वाले व्यक्ति की पहचान का मसला विद्वत जनों में जहां इतनी उथल-पुथल मचा रहा था वहीं यह हे मार्केट मुकदमे के लिए अप्रासंगिक बना हुआ था। अलबर्ट पार्सन्स, आगस्ट स्पाइस, जार्ज एंजेल, सैमुअल फील्डेन, एडोल्फ फिशर, माइकेल श्वैब, आस्कर नीबे और लुइस लिंग्ग पर हत्या की साजिश रचने का आरोप लगाया गया था, बम फेंकने का नहीं। इन आठों में से केवल फील्डेन और स्पाइस वहां मौजूद थे जब बम विस्फोट हुआ था। परन्तु सरकारी वकील जूलियस एस. ग्रिनेल ने यह घोषणा की, ''इन व्यक्तियों को अपराधी घोषित करो, लोगों के सामने इनका उदाहरण रखो, इन्हें फांसी पर लटका दो और तभी हमारी संस्थाओं को तुम बचा पाओगे।''

आखिर वे कौन से विचार थे जो इस सामाजिक संरचना के लिए इतना खतरनाक साबित हो रहे थे। अलबर्ट पार्सन्स ने अराजकतावाद को इस रूप में परिभाषित किया यह, ''बल प्रयोग का निषेध है, सामाजिक मामलों में सभी प्रकार के प्राधिकार का उन्मूलन है। यह एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर शासन के अधिकार का प्रतिवाद है। यह निर्बाध और समान रूप से लोगों के बीच शक्ति का, अधिकारों और कर्तव्यों का बंटवारा है।'' स्पाइस का कहना था कि, ''अराजकतावाद का अर्थ रक्तपात नहीं है, आगजनी या लूटपाट नहीं है। इसके विपरीत ये विकृतियां पूंजीवादी समाज की अभिलाक्षकिणता हैं। अराजकतावाद का अर्थ है सभी के लिए चैन और शांति।'' लुइस लिंग्ग के लिए, ''अराजकता का अर्थ है जहां एक व्यक्ति का दूसरे पर शासन या प्राधिकार नहीं होगा....।''

इन तमाम चीजों के बावजूद जब 21 जून, 1886 को मुकदमे की शुरुआत हुई तो कचहरी में उपस्थित हुए व्यक्तियों के बारे में लोगों की वही बम फेंकने वाला, रक्तपिपासु, अपराधी प्रवृत्ति के विक्षिप्त व्यक्ति की पुरानी घिसी-पिटी धारणा बनी हुई थी। मुकदमे की सुनवाई के समय सिर्फ सात व्यक्ति ही हिरासत में थे। पार्सन्स ने बम विस्फोट के बाद भंयकर हुई स्थिति का अन्दाज लगते ही शिकागो शहर छोड़ दिया था और छह सप्ताह तक गिरफ्तारी से बचने में कामयाब रहा। परन्तु अपने वकील और अपनी पत्नी से सलाह-मशविरा करने के बाद पार्सन्स ने समर्पण कर देने और अपने साथियों के साथ स्वयं पर भी मुकदमा चलाये जाने के पक्ष में निर्णय लिया। हर कोई इस बात से सहमत था कि इस कार्रवाई से उसके पक्ष में माहौल बनेगा। अतएव, मुकदमे की कार्रवाई के शुरू होते ही पार्सन्स न्यायालय में उपस्थित हुआ और नाटकीय ढंग से खुद को अधिकारियों के सामने पेश कर दिया।

शुरू से ही यह मुकदमा एक नाटक था। न्यायालय के अधिकारी ने छांट-छांट कर जूरी के सदस्यों का चयन किया था, उसने अपनी योजना को छुपाया भी नहीं, ''मैं जूरी में बैठने के लिए ऐसे सदस्यों को चुन रहा हूं जिन्हें प्रतिवादी अनिवार्यत: चुनौती तो देंगे परन्तु उनकी चुनौती और उनका समय व्यर्थ जायेगा। और तब उन्हें उन व्यक्तियों को स्वीकार करना ही पड़ेगा जिन्हें अभियोजन पक्ष रखना चाहेगा।'' यह रणनीति काम कर गई। इस हादसे में शिकार हुए पुलिसकर्मी का एक सम्बन्धी और साफ-साफ पूर्वाग्रह रखने वाले कुछ अन्य लोग भी इस जूरी में बैठे।

अभियोजन की कार्यवाही के दौरान गवाहों ने झूठी गवाहियां दीं, बयान बदले और परस्पर अन्तरविरोधी बातें कहीं। सरकारी पक्ष में या तो साक्ष्य गढ़े गये अथवा उन्हें दबा दिया गया। अभियोजन पक्ष की दलीलों का अधिकतर हिस्सा प्रतिवादियों व अन्य द्वारा शिकागो के रेडिकल समाचार पत्रों में लिखे गये उग्र लेखों पर आधारित था।

यह मुकदमा नगर में चलने वाला सबसे बढ़िया तमाशा था जहां भारी भीड़ जुटती थी। पूरी कार्यवाही के दौरान जूरी के सदस्य ताश खेलते और फैशनपरस्त युवा, खूबसूरत रईसजादियों न्यायाधीश गैरी के साथ न्यायपीठ पर बैठतीं। जो लोग देखने और खुद को दिखाने आते उनमें से एक वासर की स्नातक और विशाल धन सम्पत्ति की उत्तराधिकारी रोज सारा नीमा स्टुअर्ट क्लार्क वान जाण्ट भी थी।

वान जाण्ट ने बाद में न्याय की इस नौटंकी की चर्चा करते हुए बताया, ''मुकदमे की सुनवाई के नाम पर खेले जाने वाले इस प्रहसन को देखने के लिए जिस समय मैं अदालत में दाखिल हुई तब तक उनमें से किसी भी अभियुक्त को मैं नहीं जानती थी—मूढ़, दुष्ट स्वभाव वाले और अपराधी चेहरे-मोहरे वाले व्यक्तियों के

एक दुष्प्राप्य से समूह को देखने की आशा कर रही थी। यह देखकर मुझे बेहद आश्चर्य हुआ कि इस विवरण के बिल्कुल उलट उनमें से बहुतेरे सद्भावनापूर्ण, दयालु और भले चेहरे वाले लोग थे। मेरी दिलचस्पी बढ़ गयी। मैंने जल्दी ही यह जान लिया कि न्यायालय के अधिकारी और समूची पुलिस और सरकारी गुप्तचरों की ताकत इन्हें अपराधी सिद्ध करने पर तुली हुई थी—इसलिए नहीं कि उन्होंने कोई जुर्म किया था बल्कि इस वजह से कि ये मजदूर आन्दोलन से जुड़े हुए थे।''

वान जाण्ट कुक काउण्टी जेल में इन कैदियों से जाकर मिलने-जुलने लगी और आगस्ट स्पाइस के साथ उसकी मित्रता शीघ्र ही प्रगाढ़ता में बदल गई। लेकिन उन नये नियमों के जरिये वान जाण्ट के मिलने-जुलने में अड़चन डाली गई जिसके मुताबिक नियत समय के बाद सिर्फ कैदियों की पत्नियों को ही मिलने-जुलने की इजाजत थी। ''यह बात मेरे लिए साफ हो चुकी थी कि कैदियों के लिए, न्याय के लिए मेरा प्रयास कुछ ऐसे लोगों के समूह को नागवार लग रहा था जो उन्हें मिटा देना चाहते थे—उनकी यह भावना मेरे सामाजिक रुतबे और सामाजिक सम्बन्धों के कारण और प्रबल हो उठी थी।'' स्पाइस और वान जाण्ट ने वैवाहिक सूत्र में बंधने का निर्णय लिया परन्तु इसके लिए अधिकारियों ने अनुमति देने से इंकार कर दिया और स्पाइस के भाई को परोक्ष प्रतिनिधि के रूप में खड़ा कर विवाह की रस्म को पूरा किया गया।

शादी के बाद वान जाण्ट की अखबारों में खूब निंदा हुई, पड़ोसियों ने जीना मुहाल कर दिया और उसकी चाची ने उसे करोड़ों डालर के उत्तराधिकार से वंचित कर दिया क्योंकि नीना एक ''उपयुक्त विवाह'' करने में असफल रही थी। परन्तु वान जाण्ट स्पाइस अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित थी, स्पाइस की आत्मकथा प्रकाशित करवाने और अपनी पति की फांसी के बाद हे मार्केट की घटनाओं को लगातार प्रसारित करने में लगी रही।

प्रतिवादियों के पक्ष का सर्वप्रमुख गवाह शिकागो का मेयर कार्टर हैरिसन था। गड़बड़ी फैलने की आशंका के चलते वह 4 मई को हे मार्केट के जुलूस में गया था। कुछ देर वहां रहने के बाद उसे खतरे की कोई वजह दिखाई नहीं दी और वह पुलिस स्टेशन चला आया वहां उसने बॉनफील्ड से अपने आदमियों को वापस घर भेज देने के लिए कहा। बॉनफील्ड सहमत हो गया लेकिन मेयर के जाते ही उसने अपने आदमियों को हे मार्केट की ओर रवाना कर दिया।

हैरिसन के साक्ष्य के बावजूद जैसा कि अपेक्षित था, अराजकतावादियों को दोषी करार दिया गया। सात को फांसी की सजा दी गई, सात पुलिसवालों के लिए सात अराजकतावादी। आठवें प्रतिवादी आस्कर नीबे के खिलाफ आरोप खारिज करने की राज्य के सरकारी वकील की प्रार्थना के बावजूद उसे 15 वर्ष की सजा दी गई।

एक साल तक कानूनी और सरकारी लड़ाई चलती रही परन्तु इसका कोई नतीजा नहीं निकला। अन्तिम दिनों में फील्डेन, स्पाइस और श्वैब ने गवर्नर के पास क्षमादान की याचिका भेजी जिसके लिए उन्हें अपने बहुतेरे कामरेडों की भर्त्सना सहनी पड़ी। तब फांसी के लिए नियत दिन के दो दिन पूर्व स्पाइस ने अपनी प्रार्थना वापस ले ली और गवर्नर को अपने दूसरे पत्र में उसने लिखा, ''मेरी आपसे विनती है कि आप सात व्यक्तियों के हत्याकांड को रोक लें जिनका अपराध सिर्फ इतना ही है कि वे आदर्शवादी हैं, कि वे सभी लोगों के बेहतर भविष्य की कामना में जीने वाले लोग हैं। यदि कानूनी हत्या जरूरी ही है तो इसके लिए सिर्फ एक की, सिर्फ मेरी हत्या से काम चल जायेगा।'' गवर्नर ने फील्डेन और श्वैब की याचिका स्वीकार कर ली, उनकी मौत की सजा को घटाकर आजन्म कारावास में बदल दिया।

जिस दिन फांसी की सजा निश्चित की गई थी उसके 5 दिन पहले 6 नवम्बर को कैदियों को हटा कर उनकी कोठरियों की तलाशी ली गई। पुलिस ने घोषित किया कि लुइस लिंग्ग की कोठरी में चार बम पाये गये हैं। पार्सन्स को इसका विश्वास नहीं हुआ। उनका मानना था कि जनता की बढ़ती सहानुभूति लहर को खत्म करने के लिए यह साजिश रची गई थी। कुछ लोगों का यह सोचना था कि लिंग्ग ने गुप्त रूप से बम छिपा रखा था।

लुइस लिंग्ग, जो फांसी के समय 23 वर्ष का था शहादत देने वालों में सर्वाधिक नौजवान सबसे अधिक रैडिकल था। लिंग्ग पहले बम बना चुका था, बल प्रयोग का हिमायती था और पूरे मुकदमे के समय चलने वाली कार्यवाही के दौरान उसमें एक जज़्बाती उदासीनता दिखाई देती थी। गवाहों को सुनने की जगह उसे कुछ पढ़ना अधिक रुचिकर लगता।

कैप्टेन शाक ने बाद के दिनों में लिखा कि लिंग्ग ''प्रचण्ड गुस्से से दांत किटकिटाता था और आदिम नफरत से उसकी आंखें बाहर निकली पड़ती थीं... वह पिंजड़े में कैद जंगली जानवर की तरह क्रोधोन्मत्त हो जाता, और उसकी प्रत्येक गति में भावनाओं की ऐसी शक्ति थी जिसे रोकना भयंकर होता।'' शाक के अनुसार लिंग्ग 'पूरे शिकागो में सबसे खतरनाक अराजकतावादी था।''

अराजकतावादियों और उनके समर्थकों की भी लिंग्ग के साथ असहमति थी। स्पाइस उसे ''गैर जिम्मेदार'' और ''झक्की'' कहता था। माइकेल श्वैब इस बात को स्वीकार करता था कि लिंग्ग के साथ 'उसके ''दोस्ताना सम्बन्ध नहीं थे,'' ''वह निश्चित ही ऐसा था.... एक ऐसा व्यक्ति जिसके साथ आप परिचित होना पसन्द नहीं करेंगे।'' कुछ समर्थकों को यह आशा भी थी कि उसे पागल सिद्ध करके फैसले को एकदम पलटा जा सकता है।

परन्तु अन्य दूसरे लोग उसे नायक मानते थे। वोल्टेराइन डि क्लेयेर ने लिंग्ग की चर्चा ''एक बहादुर, खूबसूरत लड़के''... के रूप में की है और एम्मा गोल्डमैन का उसके बारे में कहना था कि वह ''आठों के बीच एक उदात्त नायक था। उसकी न डिगने वाली स्पिरिट, न्यायाधीशों और खुद पर आरोप मढ़ने वालों के खिलाफ उसका चरम तिरस्कार, उसकी दृढ़ इच्छाशक्ति...बाइस वर्ष के उस लड़के की ये तमाम बातें उसके व्यक्तित्व को रूमानियत और खूबसूरती प्रदान करती थीं। वह हमारे जीवन का प्रकाश स्तम्भ बन गया।''

लिंग्ग का कोर्ट में दिया गया आवेगपूर्ण अन्तिम भाषण उस व्यक्ति की एक झलक दिखाता है :

मैं स्पष्टतया और खुले तौर पर तुमसे कहना चाहता हूं। मैं बल प्रयोग में विश्वास करता हूं। मैंने कैप्टेन शाक को पहले ही बता दिया है कि 'यदि वे हम पर गोले बरसायेंगे तो मैं उन्हें डायनामाइट से उड़ा दूंगा, मैं दुहरा देना चाहता हूं कि मैं आज की इस 'व्यवस्था' का दुश्मन हूं और मैं फिर कहता हूं कि जब तक मेरी सांस है मैं अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके खिलाफ लड़ूंगा। मैं फिर से यह ऐलान करता हूं। स्पष्टता के साथ और खुले रूप में, कि मैं बल प्रयोग के पक्ष में हूं... कदाचित तुम सोचते हो कि अब कोई बम नहीं फेंकेगा, लेकिन मैं तुम्हें यह भरोसा दिलाना चाहता हूं कि मैं फांसी के फंदे पर खुशी से झूल जाउंगा क्योंकि मुझे इस बात का पूरा यकीन है कि वे सैकड़ों हजारों लोग जिनके साथ मैंने बात की है मेरे शब्दों को याद रखेंगे और जब तुम हमें फांसी पर लटका दोगे तो—मेरी बात को याद रखना—बम फेंकने का काम वे करेंगे। इसी उम्मीद के साथ मैं यह कहना चाहता हूं कि मुझे तुमसे नफरत है, नफरत करता हूं मैं तुम्हारी इस व्यवस्था से, तुम्हारे कानून से, बलपूर्वक अर्जित तुम्हारी

इस सत्ता से। इसके लिए मुझे फांसी पर चढ़ा दो।''

11 नवम्बर 1889 को ''शुक्रवार के काले दिन'' आगस्ट स्पाइस, जार्ज एंजेल, एडोल्फ फिशर और अलबर्ट पार्सन्स को फांसी दे दी गई।

अपने दोनों बच्चों को और अपनी घनिष्ठ मित्र लिजी होम्स को साथ लेकर पहुंची लूसी पार्सन्स ने फांसी के पहले अन्तिम बार अपने पति से मिलने की जी तोड़ कोशिश की परन्तु पुलिस उन्हें मदद का वादा करते हुए ऊपर से नीचे तक एक चौकी से दूसरी चौकी पर भेजती रही। समय तेजी से भाग रहा था और बच्चे ठंड से कांप रहे थे और रो रहे थे तब लूसी ने पुलिस बैरियर को पार करने की कोशिश की। उन्हें, लिजी तथा दोनों बच्चों को गिरफ्तार कर लिया गया, शिकागो एवेन्यु पुलिस स्टेशन पर ले जाया गया, उनके कपड़ों की तलाशी ली गयी और अलग-अलग कोठरियों में उन्हें बंद कर दिया गया।

दोपहर के ठीक बाद एक मैट्रन आयी और यह घोषित किया, ''सब कुछ खत्म हो गया।'' और उसके बाद के तीन घण्टों में उन्हें छोड़ दिये जाने के समय तक लिजी होम्स अपनी मित्र की ''नाउम्मीदी भरी दबी दबी कराह सुनती रही।

लुइस लिंग, बेशक फांसी चढ़ने से बच गया। फांसी के एक दिन पहले लिंग ने सिगार पीने के बाद डायनामाइट का पलीता अपने मुंह में रखी और उसमें जलती तीली लगा दी। विस्फोट से उसका आधा चेहरा उड़ गया। मौत से पहले कई घण्टों तक वह भयानक पीड़ा से जूझता रहा। कइयों का यह मानना था कि पुलिस ने उसके सिगार में डायनामाइट रख दिया, परन्तु अधिकांश लोगों को विश्वास था कि जल्लद को धोखा देने के लिए अभिमानी लिंग ने खुद को मार डाला।

एम्मा गोल्डमैन को अपने पत्र में एलेक्जेण्डर वर्कमैन ने लिखा : ''(पुलिस) यह भलीभांति जानती थी कि लिंग की मौत निश्चित है। फिर वह उसे क्यों मारना चाहती? जब कि दूसरी ओर लिंग कदाचित एक इस तरह का व्यक्ति था जो अपने हाथों मरना पसन्द करता।''

वोल्टराइन डि क्लेयेर इस बात को जानती थी कि लिंग ने खुद अपनी जान ली और 1897 के अपने भाषण में उन्होंने ऐसा कहा भी–''16 नवम्बर! लिंग ने सिगार में मित्र द्वारा दिये गये एक डायनामाइट कारतूस की बदौलत कानून पर फतह हासिल की।'' वह मित्र डायर लुम था यह बात डि क्लेयेर ने अपने बेटे को बतायी थी। अपने मित्र के बारे में डायर लुम लिखते हैं, ''एक क्षण के लिए भी कोई झूठी उम्मीद सिद्धान्तों की राह से जिसे कभी डिगा नहीं सकती थी, उस समर्पित और निर्भीक लिंग ने मौत को वैसे ही गले लगाया जैसा उसने जीवन जिया था—प्रकृति की सन्तान की तरह।''

फांसी के बाद शहीदों के शव उनके घर वालों को सौंप दिये गये। लिंग का कोई परिवार न होने से उसके पार्थिक शरीर को जार्ज एंजेल के घर और खिलौनों की दुकान पर लाया गया, जिसके साथ उसकी बहुत घनिष्ठता बन गयी थी। कुछ लोग लिंग के शरीर की सड़कों पर नुमाइश करना चाहते थे और इसके लिए कई हजार डालर की पेशकश भी की पर एंजेल की विधवा ने गुस्से के साथ इसे ठुकरा दिया।

अलबर्ट की पार्थिक देह को जब तीसरी मंजिल पर स्थित उसके छोटे से अपार्टमेण्ट में लाया गया तो लूसी फूट पड़ी और अचेत हो गई। लिजी होम्स पूरे दिन उसके साथ बनी रही और उसके दोनों बच्चों को सैमुएल फील्डेन की पत्नी ने सम्हालने की कोशिश की।

वह मकान जहां आगस्ट स्पाइस अपनी मां, भाई और बहनों के साथ रहता था अब भी शिकागो के विकर पार्क में खड़ा है। और 1887 के 'डेली न्यूज' में वर्णित उस दृश्य की आसानी से कल्पना की जा सकती है, ''दरवाजे पर लगी घंटी से काले और सफेद पट्टियों वाली क्रेप लटकी हुई थी। ऊपर की तरफ जैसे शोक का प्रतीक एक बड़ा काला गुलाब था वह भी क्रेप का बना हुआ और बीच में लाल पताकाएं हवा में फरफरा रही थीं...''

13 नवम्बर को शवयात्रा शुरू हुई। स्पाइस का ताबूत वैगन पर चढ़ा दिया गया और उसके परिवार के लोग इन्तजार में खड़ी एक अन्य गाड़ी पर बैठ गये।

शिकागो की सड़कों से गुजरती हुई यह शवयात्रा प्रत्येक शहीद के घर रुकती और उसकी पार्थिक देह लेकर आगे बढ़ जाती। जिधर-जिधर ये गाड़ियां और वैगन शिकागो की सड़कों पर निकलतीं लोग मौन होकर गंभीरता से उसके पीछे हो लेते। अंत्येष्टि का यह जुलूस शिकागो के इतिहास में सबसे विशाल जुलूस कहा जाता है, अनुमान है कि 200,000 लोगों की भीड़ अर्थी के पीदे कदम से कदम मिलाते हुए सड़कों पर चल रही थी।

भयभीत अधिकारियों ने कड़ी शर्तें रखी थीं—किसी किस्म का बैनर, झण्डा और हथियार ले जाने की इजाजत नहीं थी, सिर्फ शोक गीत की धुन बजायी जा सकती थी, भाषण और प्रदर्शन पर रोक लगायी गयी थी और इस शवयात्रा को नगर के मुख्य बाजार से होकर दोपहर से 2 बजे के बीच ही गुजरने की इजाजत थी। इन पाबन्दियों का सिर्फ एक बार उल्लंघन हुआ। जैसे ही जुलूस मिलवौकी एवेन्यू से होकर गुजरने लगा गृहयुद्ध का एक भूतपूर्व सैनिक पहली कतार के आगे बढ़ आया और एक छोटा सा अमेरिकी झण्डा खोलकर चलने लगा। बूढ़े सैनिक को पुलिस ने तंग नहीं किया और वह अन्त तक झण्डा लेकर जुलूस के साथ चलता रहा।

पुराने विसकान्सिन सेन्ट्रल स्टेशन पर आकर जुलूस रुक गया जहां इस काम के लिए खास तौर पर किराये पर ली गई रेल अर्थी के साथ आये परिवार के लोगों को फारेस्ट पार्क स्थित शवदाह गृह तक पहुंचाने के लिए खड़ी थी। दूसरे लोगों ने शवदाह गृह तक पहुंचने का खुद इन्तजाम किया। वहां 10,000 लोग अराजकतावादियों के वकील, विलियम ब्लैक का श्रद्धांजलि भाषण सुनने के लिए इकट्ठा हुए :

उन्हें अराजकतावादी कहा जाता है। उन्हें कलंकित किया गया और दुनिया के सामने ऐसे आदमी के रूप में पेश किया गया जो अपनी खुशी की खातिर हिंसा, दंगा-फसाद और खून-खराबा पसंद करते थे, जो वर्तमान व्यवस्था के खिलाफ अकारण और कभी न बुझने वाली नफरत से लबरेज थे। यह सच्चाई से कोसों दूर है। वे ऐसे लोग थे जो शान्ति चाहते थे, जो दयालु प्रवृत्ति के थे वे कोमल हृदय के भद्रजन थे। उन्हें जानने वाले लोग उनसे प्यार करते और जो उनके जीवन की ईमानदारी और पवित्रता को जान लेते उन पर भरोसा करते.... और अराजकतावादी के रूप में उनका समूचा विचार और दर्शन एक ऐसी समाज व्यवस्था को कायम करना था जिसका प्रतीक शब्द होता ''जोर-जबर्दस्ती से मुक्त व्यवस्था''।

सूर्यास्त होते ही आगस्ट स्पाइस, अल्बर्ट पार्सन्स, लुइस लिंग, जार्ज एंजेल और एडोल्फ फिशर के पार्थिव शरीर को अस्थायी कब्र में दफनाया गया। 18 दिसम्बर को उनके शरीर स्थायी समाधि में रख दिये गये।

आज मूर्तिकार अलबर्ट वीनर द्वारा निर्मित शानदार स्मारक हे मार्केट समाधि को विभूषित कर रहा है। कांसे में ढला और ''मार्सइएज'' (क्रान्ति में जन्मे फ्रांस के राष्ट्रगीत–अनु.) से प्रेरित इस स्मारक में संघर्ष के लिए तत्पर एक स्त्री एक शहीद मजदूर के सिर पर प्रतिष्ठा का ताज रख रही है। स्मारक में नीचे की तरफ आगस्ट स्पाइस के वे शब्द खुदे हैं जिसे फांसी के तख्ते से उसने जोरदार शब्दों में कहा था—

''वह दिन आयेगा जब हमारा मौन उस आवाज से ज्यादा शक्तिशाली होगा जिसका गला आज तुम घोंट रहे हो।'' गवर्नर जान एल्टजेल्ड के माफीनामे के संदेश का एक अंश पीछे की तरफ लिखा है। आठों शहीदों में सैमुअल फील्डेन को छोड़कर सभी यहां दफनाये गये हैं।

हे मार्केट स्मारक दूसरे प्रसिद्ध मजदूर कार्यकर्ताओं की समाधियों से घिरा हुआ है। अलबर्ट पार्सन्स की पत्नी लूसी और उसके दोनों बच्चों की कब्रें पास ही में हैं और नीना जाण्ट स्पाइस की भी। वान जाण्ट स्पाइस की कब्र पर कोई चिन्ह नहीं बना है क्योंकि कब्र का पत्थर खरीदने के लिए पैसा उपलब्ध नहीं हो सका था।

स्मारक के निकट 'डिसेन्टर्स रो' (विरोध प्रदर्शन करने वालों का स्थल) है जहां प्रमुखता के साथ निकला एक कब्र का पत्थर एम्मा गोल्डमैन की समाधि की ओर ध्यान खींचता है, 1940 में कनाडा में उनका देहावसान हो गया था। कब्र के पत्थर पर कांसे से बना उनका चित्र लगा है। उसके निकट ही कुछ कम प्रसिद्ध लोगों हैरी केली, एलिजाबेथ गर्ली फिन, विलियम ज़ेड. फोस्टर, यूजीन डेनिस, वोल्टेराईन डि क्लेयेर, बेन राइटमैन और एलेक्जेण्डर ट्रेक्टेनबर्ग की समाधि बनी हुई है।

1928 में जब 'बिग बिल' हेवुड की मास्को में मृत्यु हो गई तो दाह संस्कार के बाद उसकी अस्थियों का आधा हिस्सा क्रेमलिन की दीवार में दफना दिया गया और दूसरा आधा हिस्सा वाल्ढाइम में स्मारक के नीचे बिखेर दिया गया।

जो हिल को 19 नवम्बर 1915 को उटा राज्य ने फांसी दे देने के बाद आई.डब्ल्यू.डब्ल्यू. उनके शरीर को शिकागो लाया। पांच हजार लोग उसकी अन्त्येष्टि में शामिल हुए और उसके बाद जो हिल के पार्थिव शरीर का दाह संस्कार कर दिया गया। उसकी अस्थियों को अलग-अलग लिफाफों में बांट दिया गया और उटा को छोड़कर अमेरिका के हर राज्य को तथा दक्षिण अमेरिका, यूरोप, एशिया, दक्षिण अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में भेज दिया गया। 1 मई 1916 को लिफाफों को एक साथ खोला गया और जो हिल पूरे विश्व में फैला दिये गये। इलिनॉय राज्य में अस्थियां वाल्ढाइम के पास बिखेरी गईं।

और फिर मार्ट शैफनर है जिसकी 1973 में मौत हो गई थी। हाई स्कूल में शैफनर ने उन चार शिक्षकों की बर्खास्तगी का विरोध किया था जिन्हें उनकी वियतनाम-युद्ध विरोधी सक्रियताओं के चलते हटाया गया था। 18 वर्ष की उम्र में उसने नाइल्स टाउनशिप स्कूल बोर्ड के लिए चुनाव में खड़े होकर निर्वाचन कानून को चुनौती दी। मतपत्र से उसका नाम काट दिया गया परन्तु तीन सप्ताह बाद कानून को बदलना पड़ा। 20 वर्ष की आयु में जब अचानक हृदय गति रुक जाने से उसकी मौत हो गई तो उसके परिवार वालों ने उसे यहीं दफनाना पसन्द किया ताकि वाल्ढाइम की यात्रा पर आने वालों को यह याद रहे कि सामाजिक परिवर्तन का संघर्ष अभी जारी है। (1986)

मेक्सिको : सत्ता परिवर्तन के निहितार्थ

(पृष्ठ 28 का शेष)

होती है। असेम्बली-लाइनों की तेज रफ्तार और दुहरावपूर्ण काम के चलते बहुतेरे माकीलाडोरा मजदूर 22 वर्ष की उम्र में ही काम करने लायक नहीं रह जाते। इनमें बड़ी संख्या में स्त्रियां काम करती हैं।

मेक्सिको के गरीब दक्षिणी राज्यों में कुकुरमुत्तों की तरह ऐसी ठेका-कम्पनियां उग आई हैं जो उत्तर के माकीलाडोरा कारखानों के लिए मजदूरों की भरती का काम करती हैं। उत्तर के महानगरों की दूकानों, सड़कों, रिहाइशी इलाकों में जहां समृद्धि उफना रही होती है वहां 'हाई-टेक' सामानों के उत्पादक माकीलाडोरा मजदूर कार्डबोर्ड की बनी झुग्गियों में बिना पानी, और बिना ड्रेनेज-सीवेज की सुविधा के जिन्दगी बसर करते हैं। यही वह ''*ऊर्जस्वी शहरी विकास*'' है, जिसका साम्राज्यवादी इतना गुण गाते हैं!

ग्रामीण क्षेत्रों में 'नाफ्टा' के चलते किसानों की तबाही व कंगालीकरण का सिलसिला लगातार जारी है। 90 फीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं और 1 करोड़ 70 लाख किसान अत्यधिक गरीबी में (1 डालर दैनिक से भी कम खर्च पर) जीते हैं। मेक्सिको में कृषि के ''आधुनिकीकरण'' का सच यह है कि छोटे और मंझोले किसान अपनी जमीन खोकर उजरती ''गुलामों'' की कतारों में तेजी से शामिल होते जा रहे हैं।

'नाफ्टा' लागू होने के बाद तेज ''विकास'' का जो दूसरा क्षेत्र तेजी से उभरा है, वह है सैनिक साजो-सामान और सेना पर होने वाला खर्च। जनवरी 1994 के **जपाटिस्टा किसान विद्रोह** के बाद मूल आबादी वाले दक्षिणी राज्य—विशेषकर **चियापास**, **ओआक्साका** और **गुएर्रेरो**—वस्तुत: सेना के नियंत्रण में हैं। **1994 की तुलना में आज मेक्सिको में सेना और पुलिस की संख्या दूनी हो गई है।** अमेरिका से प्रशिक्षित सैनिकों के मामले में मेक्सिको कोलम्बिया के बाद दूसरे स्थान पर है। अधिकांश ऐसा प्रशिक्षण कुख्यात '*स्कूल ऑफ अमेरिकाज*' में दिया जाता है। इस तरह की रिपोर्टें भी आती रही हैं कि मेक्सिको में सशस्त्र विद्रोही ग्रुपों से निपटने के लिए **सी.आई.ए.** सीक्रेट ग्रुपों को प्रशिक्षित कर रहा है। साथ ही, मेक्सिको की संघीय और राज्य पुलिस को **एफ.बी.आई.** प्रशिक्षित कर रही है।

उनके पास कोई समाधान नहीं है!

विंसेण्ट फॉक्स जिन नीतियों को अपना रहा है, वास्तव में मेक्सिको के गहराते संकट की रफ्तार को कम करने तक का उसके पास कोई उपाय नहीं है।

पी.आर.आई. के भ्रष्ट प्रशासन से ऊबे लोगों को फॉक्स से कुछ उम्मीदें बंधी हैं, क्योंकि 71 वर्षों बाद कोई दूसरी पार्टी मेक्सिको में सत्तारूढ़ हुई है। पर इन आशाओं को धूल में मिलते देर नहीं लगेगी। शान्तिपूर्ण ''जनतांत्रिक संक्रमण'' से मेक्सिको के शासकों और साम्राज्यवादियों को कुछ समय के लिए, अपने लिए ''स्थायित्व'' हासिल कर लेने में कामयाबी भले ही मिल जाये, पर मूल समस्या बनी रहेगी और फिर दूनी प्रचण्डता के साथ उनके सिर पर घहरायेगी। भूमण्डलीकरण का 'फ्लॉप शो' सबसे नग्न रूप में मेक्सिको के रंगमंच पर ही प्रस्तुत हो रहा है और भारत जैसे देशों का भविष्य भी मेक्सिको के आईने में दीख रहा है।

फॉक्स को और उसके देशी-विदेशी आकाओं को आने वाले दिनों में मेक्सिको की जनता के पहले से भी अधिक प्रचण्ड क्रोध का सामना करना होगा, इतना तय है।

(तथ्यों के लिए स्रोत : 'रिवोल्यूशनरी वर्कर', 'टाइम', और 'न्यूजवीक')

महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था

■ डर्क जे. स्टुइक

सैको और वैन्जेटी की मुक्ति के लिए नीदरलैण्ड में चलने वाले संघर्ष में मैं शामिल था। और फिर 1927 में जब मैं बोस्टन आ गया, उस जेल के बिल्कुल निकट जहां उन्हें रखा गया था, तो आखिरी महीनों में प्रदर्शनकारियों के साथ मैंने भी वहां संघर्ष में हिस्सेदारी की। मुझे याद है कि फांसी वाले दिन मैं न्यूयार्क में था, जहां बेल टेलीफोन लेबोरेटरीज में मुझे एक काम के सिलसिले में जाना पड़ा था। वहां हम एक विशाल जनसभा में शामिल हुए थे जिसे समाजवादी नेता नारमन थॉमस सम्बोधित कर रहा था। उसी समय टेलीफोन के जरिये यह सूचना मिली कि उन्हें फांसी दी जाने वाली है—पहले सैको, फिर वैन्जेटी को। बहुत से लोग फफक पड़े थे। वे रो रहे थे और उनका शोक संतप्त हृदय आर्तनाद कर रहा था ''न्याय की हत्या हो गयी।'' सैको-वैन्जेटी मामले की मेरी निजी स्मृतियां हैं। परन्तु आज मैं यह कहना चाहूंगा कि सैको और वैन्जेटी यद्यपि साधारण लोग थे, एक सामान्य सा मोची था और एक गरीब मछली बेचने वाला, फिर भी वे नायक थे। उनकी आस्था हमें आज भी प्रेरणा दे रही है।

तीन सूत्र वाक्य मेरे जीवन में हमेशा मेरे सामने मौजूद रहे और एक हद तक उन्होंने मुझे राह भी दिखायी। पहला, बाइबिल के न्यू टेस्टामेण्ट में मेरे पसंदीदा अध्याय प्रथम कोरिन्थियन्स 13 में सन्त पाल के ये शब्द; ''और अब आस्था, उम्मीद और परोपकार, इन तीनों पर अटल रहो, परन्तु इनमें सबसे बड़ा है परोपकार।'' दूसरा सूत्र वाक्य कार्ल मार्क्स का है, ''दुनिया के मजदूरो, एक हो।'' तीसरा कथन आइन्सटीन का है, ''मानवजाति के जीवित रहने और उच्चतर धरातल तक पहुंचने के लिए एक नये तरह की सोच अनिवार्य है।'' ये तीनों सूत्र वाक्य पर्याप्त सोचने-विचारने और काम करने का आधार मुहैया कराते हैं। सन्त पाल की नजर में परोपकार (चैरिटी) का अर्थ दान देने से नहीं है बल्कि यह लैटिन शब्द ''केरिटास'' का भाषान्तर है जो स्वयं ग्रीक के ''एगेप'' शब्द का अनुवाद है जिसका आशय कुछ इस प्रकार होता है : अपने साथी भाइयों के भवितव्य का पूरा-पूरा ध्यान रखते हुए वह काम करना जिसे आत्मा गवारा करे। एक अर्थ में और कदाचित सर्वोपरि रूप में इसका आशय यह निकलता है कि प्रत्येक मनुष्य महत्वपूर्ण होता है—समग्रता में सिर्फ लोग ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति महत्वपूर्ण है।

एक बार मेरे एक मित्र ने, जो एक प्रतिष्ठित विद्वान था, यह टिप्पणी की, ''करोड़ों लोग इस पृथ्वी पर आये और चले गये पर देखो उनमें से कितने थोड़े से लोग किसी काबिल हो सके।'' मेरे विचार से यह परोपकारी भाव की कमी का ठेठ मामला था। मुझे लगता है कि सन्त पाल लिंकन की इस उक्ति से सहमत हुए होते कि ईश्वर आम इंसान को प्यार करता होगा तभी उसने इतने सारे आम इंसानों को—हम सबको पैदा किया है। मैं कहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति महत्वपूर्ण है। यदि यह जानना है तो जाओ लोगों से बात करो, उन्हें ध्यान से देखो। उबाऊ और थके-हारे जीवन के बीच तुम्हें एक ऐसी मां मिल जायेगी जिसने अपने बच्चों के लिए खुद को कुर्बान कर दिया, एक ऐसे शिक्षक से मुलाकात हो जायेगी जिसकी सीख प्रेरणा देती रहेगी। और कभी अचानक हमें दिखेगा कि एक नीरस बैंक क्लर्क रंगों से चित्रकारी कर रहा है, एक साधारण बढ़ई अत्यन्त मनमोहक काष्ठ शिल्प बना रहा है।

कई वर्ष पूर्व, न्यूयार्क लेबर रिसर्च एसोशियेशन के लिए मैंने जूता उद्योग पर एक अध्ययन किया था और अध्ययन के दौरान जिस किसी जूता बनाने वाले से मैं मिला, कारखाने के जिस भी मजदूर से मैंने बातचीत की उनमें से हर किसी के पास बताने के लिए एक कहानी थी और हर वृतान्त का एक निश्चित महत्व होता, ये कहानियां कार्यस्थल पर उसके परिहास के बारे में, मशीनों के प्रति उसके रवैये और यूनियन में उसकी सक्रियता के विषय में, हड़ताल के समय उसकी लड़ाई और काम के बाबत होतीं और उस कर्मशीलता और संघर्ष के बारे में होतीं जो जीवित रहने और श्रम की कार्रवाइयों में लगे रहने के लिए जरूरी था। यह बात निस्संदेह किसी भी व्यवसाय के सम्बन्ध में उतनी ही सच है। जनसाधारण सिर्फ महत्वपूर्ण ही नहीं होते वे दिलचस्प भी होते हैं। आप और मैं, हम सभी दिलचस्प लोग हैं। आप भले न जानते हों, मैं इसे बखूबी समझता हूं। इस बात को लोगों में प्रचारित करने का काम विगत सदी के फ्रांसीसी साहित्यकार बाल्जाक से बेहतर कोई अन्य व्यक्ति नहीं कर सका है। यदि आप बाल्जाक को पढ़ते रहे हों, जिसको मैंने भी अपनी जवानी में खूब पढ़ा है, तो आप आम आदमी में एक किस्म का देवत्व पायेंगे। उनके उपन्यासों में आपको जादुई सम्मोहन मिलेगा। और बहुधा, वहां एक अतिशय स्नेहशील पिता की वैयक्तिक महानता दिखायी देगी, एक अनजाना आविष्कारक होगा, एक संघर्षरत पत्रकार व एक कस्बाई चिकित्सक नजर आयेगा, एक पादरी, एक बदहाल बैंककर्मी और यहां तक कि एक सजायाफ्ता मुजरिम को भी आप देख सकेंगे।

पाषाणयुग के प्रारम्भिक दिनों से आज तक के कम्प्यूटरयुग के इतिहास पर यदि नजर दौड़ायें, तो आप देखेंगे कि प्रत्येक समाज में, किसी महान यशस्वी आविष्कर्ता के पीछे उससे कमतर ख्याति के सैकड़ों आविष्कर्ताओं और वैज्ञानिकों का हाथ होता है और वे स्वयं भी अपने से कम प्रसिद्ध लोगों के कंधों पर खड़े होते हैं। वे महान उपलब्धियां कभी भी संभव नहीं हो सकती थीं यदि बिल्कुल आम लोगों के विशाल समूह ने इसके लिए वह परिवेश न रचा होता । यही बात मजदूर आन्दोलनों और समाजवाद के इतिहास में भी देखी जा सकती है जहां यूजीन डेब्स जैसे महान नामों के पीछे वे सैकड़ों आम लोग थे जो रोज-रोज की कार्रवाइयों को अंजाम दे रहे थे। उनकी भाषण पटुता और प्रचार का कोई मतलब नहीं रहता यदि उन आदर्शों के लिए जीने वाले और बहुधा मौत के साथ भुला दिये जाने वाले वे साधारण लोग रोजमर्रे के कामों को पूरा नहीं कर रहे होते। ऐसे ही बहुतेरे लोग 1910 में नीदरलैण्ड के समाजवादी आंदोलन की धुरी थे। मैं इनसे मिला और नेताओं के आचरण की तुलना में इनके कामों के महत्व ने मुझे ज्यादा प्रभावित

किया। कभी-कभी तो अपने नेताओं की अपेक्षा ऐसे साधारण लोग चीजों को ज्यादा गहराई से देख लेते हैं, और यह एक बढ़िया बात है।

मेरी पुस्तक से ये कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं : होरेस मान ही अकेला वह व्यक्ति नहीं था जिसने इस राज्य में और संयुक्त राज्य अमेरिका में सार्वजनिक शिक्षा को अपने कामों के जरिये सम्भव बनाया बल्कि उसके पीछे सैकड़ों की संख्या में वे लोग थे जो उसका साथ दे रहे थे। यूजीन डेब्स ने अकेले ही मजदूरों के संघर्षों को नहीं फैलाया और जब तब उसे विजयी बनाया बल्कि वे सैकड़ों साधारण लोग थे जो उसे मजबूती दे रहे थे। और वह अकेला पीटर जेंगर ही नहीं था जिसने प्रेस की आजादी को, जो कुछ भी आज हासिल है, हमारे लिए सुलभ बनाया बल्कि वे सैकड़ों आम लोग थे जो उसके साथ डटे हुए थे और उसे सहारा दे रहे थे। स्त्रियों के मताधिकार को संभव बनाने वाली सूसन वी. एन्थोनी अकेली महिला नहीं थी बल्कि वे सैकड़ों स्त्रियां भी थीं जो उसके साथ खड़ी थीं। इस प्रकार हम देखते हैं उन विशिष्ट व्यक्तियों को, जो कामों में लगे रहे, बार-बार कुर्बानियां दीं और जरूरत पड़ने पर अपने नेताओं की अपेक्षा चीजों को ज्यादा गहराई से समझा।

ये सभी घटनाएं आम जनों में आस्था और विवेक का निर्माण करती हैं यदि उन्हें सही ढंग से जानकारी और अवसर दिया जाये। परन्तु चूंकि ऐसा नहीं होता इसलिए पूरी दुनिया के पैमाने पर आम लोगों की असंख्य आबादी के हिस्से में विपत्ति है, शोषण और दुर्व्यवहार है, गरीबी और यहां तक कि मौत भी है। यहां क्या परोपकार भाव हमारी मदद कर सकता है? अवश्य ही, परन्तु उस सुपरिचित नारे, ''संगठित हो, एक हो!'' अथवा यदि मैं कम्युनिस्ट घोषणापत्र के नारे को दोहराऊं तो ''दुनिया के मजदूरो एक हो!'' द्वारा सुझाये गये नितान्त व्यापक अर्थों में हमें मदद मिल सकती है। इस नारे ने 1848 में हमारी मदद की थी और 1996 में भी वह उतना ही खरा और पक्का है। मार्क्स का विचार था कि समाज का एक बेहतर ढांचा सम्भव है और ऐसे समाज के उपकरण के रूप में मेहनतकश वर्ग को समाज स्वयं पैदा करता है। इसके लिए किसी प्रचण्ड शक्ति अथवा जादू-टोने की आवश्यकता नहीं होती। यदि आम लोगों को समुचित जानकारी दी जाये और उन्हें संगठित किया जाये तो उनके जरिये समाज अपनी बेहतरी के लिए स्वयं ही ऐसी शक्ति पैदा करता है।

मैं इसे कैसे देखता हूं इसकी मैं कुछ मिसालें देता हूं। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के इतिहास में मेहनतकश जनता के मुक्ति संघर्ष को पराजय दर पराजय का सामना करना पड़ा और हर पराजय के बाद वह पहले से अधिक शक्तिशाली बन कर उभरा। 1848 की क्रान्ति को पराजय का मुंह देखना पड़ा था परन्तु उसके बाद के 15 वर्षों में मजदूर आन्दोलन इतना मजबूत हो गया कि 1864 में उसने प्रथम इण्टरनेशनल का गठन किया। 1871 में पेरिस कम्यून के बाद प्रथम इण्टरनेशनल भंग हो गया था परन्तु उसके ठीक 18 वर्षों बाद ब्रुसेल्स में दुनिया के विशाल भूभाग तक फैली अपनी शाखाओं सहित दूसरा इण्टरनेशनल पहले इण्टरनेशनल के मुकाबले कहीं अधिक शक्तिशाली रूप में गठित कर लिया गया। प्रथम विश्व युद्ध के दौर को मैंने जिया था और मुझे याद है कि 1914 में दूसरा इण्टरनेशनल, जिस पर युद्ध को रोक देने की हमारी उम्मीदें टिकी हुई थीं किस प्रकार टूट बिखर गया और एक बार फिर मुक्ति और प्रगति की ताकतों को एक करारी हार झेलनी पड़ी थी। इसकी वजह थी अतिशय राष्ट्रवाद—आजकल यह आम बात लगती है!

1917 में रूसी क्रान्ति हुई। उसके बाद अन्य देशों में क्रान्तियां हुईं और पहली बार विश्व के एक समूचे भाग को समाजवादी ढांचे के अनुरूप गठित करने का प्रयास शुरू हुआ। यह एक सफलता थी। और फिर 1941 में सोवियत संघ पर हिटलर ने आक्रमण कर दिया, विद्वत जन चीखने-चिल्लाने लगे ''6 सप्ताह के अन्दर मास्को हिटलर के कब्जे में होगा।'' जो लोग इसे सच मान बैठे उन्हें यह लगने लगा कि दुनिया को समाजवादी तरीके से गठित करने का अवसर हमने एक बार फिर से खो दिया है, परन्तु विजय पताका फहराने वाला हिटलर नहीं था, आप सभी जानते हैं उसका क्या हश्र हुआ। इन तमाम चीजों का परिणाम यह निकला कि समाजवाद के निर्माण का प्रयास दुनिया के विशाल भूभाग में फैलता गया, इसी बीच 1949 में मेरे पचपनवें जन्म दिन पर—एक ऐसा शानदार तोहफा मुझे मिला जैसा मैंने पहले कभी नहीं पाया था—चीनी लोक गणराज्य की स्थापना हुई। वह उस समय समाजवाद की राह पर अग्रसर था और कदाचित आज भी है। 1989 में वज्रपात हुआ, जब एक बेहतर समाज के निर्माण का, एक हद तक सफल रहा समूचा प्रयास धूल-धूसरित हो गया। अब ऐसा लगता है जैसे पूंजीवाद—जो एक संकटग्रस्त पूंजीवाद है—विश्व पर शासन कर रहा है।

परन्तु इतिहास के सबक से हमें कुछ उम्मीद रखनी चाहिए। मैंने अपनी जानकारी में इसकी कुछ एक मिसालें आपके सामने रखी भी हैं। मुझे इस बात की पूरी सम्भावना दिखाई देती है कि निकट भविष्य में, इन तमाम संकटों के बीच से मानव मुक्ति का एक ऐसा महान संघर्ष जन्म लेगा जैसा हमने पहले कभी नहीं देखा था। परन्तु इसके लिए हमें मेहनत करनी होगी, हमें आइन्स्टीन के उन शब्दों को याद करने की जरूरत होगी जिसका मैंने हवाला दिया है और वह यह कि हमें सोच का एक नया तरीका विकसित करना होगा क्यों कि समूची दुनिया के मजदूरों का संगठन खड़ा करने के रास्ते से हम सिर्फ भटक ही नहीं गये हैं बल्कि स्वयं उस पृथ्वी के संरक्षण के संघर्ष से भी हम दूर हट गये हैं जिस पर हम टिके हुए और जीवित हैं।

मानवजाति की मुक्ति और पृथ्वी के संरक्षण के संयुक्त संघर्ष के लिए बिल्कुल नये ढंग से सोचने की जरूरत है और मुझे विश्वास है कि सोचने का यह नया तरीका सीधे वाशिंगटन से निकल कर नहीं आता; इस काम को *हमें* अंजाम देना होगा, हमें से मेरा आशय है दुनिया की वह आबादी जो पूंजीवादी व्यवस्था की सड़ांध तले घुट रही है। इसके लिए अवसर तो पर्याप्त उपलब्ध हो जायेंगे। नये किस्म के तरीकों को खोजना होगा। और समाधान ढूंढ़ने का काम तुम जैसे नौजवानों के जिम्मे है। लाल (यानी क्रान्ति) और हरे को (यानी पृथ्वी का संरक्षण) परस्पर सहयोग स्थापित करने के तरीके ईजाद करने होंगे। लाल अधिकतर मजदूर और मेहनतकश होते हैं और हरे ज्यादातर मध्यवर्ग। उनके बीच संघर्ष उठते रहते हैं परन्तु उन्हें ऐसी राह तलाशनी होगी जिसमें वे साथ-साथ काम कर सकें। सिर्फ लाल और हरे को ही नहीं बल्कि गोरे भूरे और काले लोगों को भी साथ मिलकर काम करना होगा।

यह एक गणितज्ञ की आस्था है, यद्यपि मैं एक गणितज्ञ की हैसियत से नहीं बल्कि सैको और वैन्जेटी जैसे एक आम आदमी की तरह बात कर रहा हूं। एक बेहतर समाज की चाहत और उम्मीदों को मैं इस सीधे-साधे मोची, इस गरीब मछली बेचने वाले और आप लोगों के साथ बांटना चाहता हूं।

अनुवाद : मीनाक्षी

लू शुन के जन्म दिवस
(25 सितम्बर)
के अवसर पर

मृत ज्वाला

• लू शुन

●

मैंने एक सपना देखा। मैं बर्फ के पहाड़ पर दौड़ा चला जा रहा था।

यह एक विशाल, बहुत ऊंचा पहाड़ था जिसकी चोटियां ऊपर बर्फीले आकाश को छू रही थीं।; और आकश जमे हुए बादलों से भरा था जो मछली के शल्कों जैसे लग रहे थे। पहाड़ की तलहटी में बर्फ का जंगल था जिसमें पाइन और साइप्रस के पेड़ों जैसी पत्तियां और शाखायें नजर आ रही थीं। सब कुछ बर्फीला ठण्डा था, ठंडी राख जैसा बेजान।

लेकिन अचानक मैं बर्फ की घाटी में गिर पड़ा।

चारों ओर, ऊपर-नीचे सब कुछ बर्फीला ठण्डा था, ठण्डी राख जैसा बेजान। लेकिन रंगहीन बर्फ के ऊपर अनगिनत लाल छायाएं बिखरी थीं, मूंगे के जाल की तरह आपस में गुत्थमगुत्था। नीचे देखा तो मेरे पैरों के पास एक ज्वाला दिखाई दी।

यह मृत ज्वाला थी। इसका रूप लपलपाती लपटों जैसा था, पर यह बिल्कुल स्थिर थी, पूरी तरह जमी हुई, मूंगे की शाखाओं की तरह, और इसके किनारों पर जमा हुआ काला धुंआ जो सीधा किसी चिमनी से निकला लग रहा था। और चारों ओर की बर्फ पर पड़ रहे इसके प्रतिबिम्ब चमकती बर्फ में कई गुना होकर असंख्य छायाओं में बदल गये थे, जिनके कारण बर्फ की घाटी मूंगे जैसी लाल हो गई थी।

अहा!

बचपन में तेज चलते जहाजों के कारण समन्दर में उठे झाग और धधकती भट्ठी से उठती आग की लपटों को देखना मुझे बहुत अच्छा लगता था। उन्हें देखना मुझे पसन्द ही नहीं था, बल्कि मैं उन्हें साफ-साफ देखना चाहता था। लेकिन वे लगातार बदलते रहते थे और उनका कोई एक रूप होता ही नहीं था। मैं चाहे जितना नजर गड़ाकर देखता, मेरे मन में कभी उनकी स्पष्ट छवि नहीं बन पाती थी।

आखिर अब मैंने तुम्हें पा ही लिया, मृत ज्वाला!

मैंने उस मृत ज्वाला को नजदीक से देखने के लिए उठाया तो उसके बर्फीलेपन से मेरी उंगलियां कटने लगीं। लेकिन दर्द सहकर भी मैंने उसे अपनी जेब में डाल लिया। पूरी घाटी एकाएक राख की तरह बदरंग हो गई। मैं सोचने लगा कि इस जगह से निकला कैसे जाये।

मेरे शरीर से काले धुंए की एक लकीर लरजती हुई सी निकली और तार के सांप की तरह ऊपर उठने लगी। एकाएक लाल-लाल ज्वालाएं हर ओर बहने लगीं और मैं एक विराट अग्निकाण्ड के बीचोंबीच था। नीचे देखा तो पाया कि मृत ज्वाला फिर से जल उठी थी, मेरे कपड़ों को जलाते हुए बाहर आ गई थी और बर्फीली जमीन पर बह रही थी।

''आह दोस्त!'' उसने कहा, ''तुमने मुझे अपनी गर्माहट से जगा दिया!''

मैंने उसे आवाज दी और उसका नाम पूछा।

मेरे सवाल को दरकिनार करते हुए उसने कहा, ''लोगों ने मुझे इस बर्फीली घाटी में लाकर छोड़ दिया था। मुझे छोड़ देने वाले कब के मर-खप गये। और मैं भी इस बर्फ में जमकर मरने के करीब थी। अगर तुम मुझे गर्मी न देते और मुझे फिर से प्रज्ज्वलित न करते, तो बहुत जल्दी मैं मर चुकी होती।''

''मुझे खुशी है कि तुम जाग गई। मैं इस बर्फ की घाटी से निकलने के बारे में सोच रहा हूं। और मैं तुम्हें अपने साथ ले जाना चाहता हूं ताकि तुम फिर कभी जमो नहीं बल्कि हमेशा-हमेशा के लिए जलती रहो।''

''अरे नहीं! तब तो मैं जलकर खत्म हो जाउंगी।''

''अगर तुम जलकर खत्म हो गई तो मुझे बहुत दुख होगा। अच्छा होगा कि मैं तुम्हें यहीं छोड़ दूं।''

''अरे नहीं! यहां तो मैं जमकर मर जाउंगी।''

''फिर किया क्या जाये?''

''तुम खुद क्या करोगे?'' उसने उलटकर पूछा।

''जैसा कि मैं तुम्हें बता चुका हूं, मैं इस बर्फ की घाटी से बाहर निकलना चाहता हूं।''

''फिर बेहतर यही होगा कि मैं जलते-जलते खत्म हो जाऊं।''

वह एक लाल धूमकेतु की तरह ऊपर उछली और हम दोनों साथ-साथ घाटी से बाहर आ गये। अचानक एक बड़ी सी पत्थर की गाड़ी चलती हुई आई और मैं उसके पहियों के नीचे दबकर मर गया। लेकिन मरते-मरते मैंने देखा कि पत्थर की गाड़ी बर्फ की घाटी में गिर रही है।

''अहा, तुम मृत ज्वाला से फिर कभी नहीं मिल सकोगे।'' यह कहते हुए मैं खुशी से हंसा, जैसे इस बात से खुश हूं कि ऐसा ही होना चाहिए था।

25 अप्रैल, 1925

अनुवाद : **सत्यम वर्मा**

भारतीय अर्थव्यवस्था : ...वो समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है!

पिछले वित्तीय वर्ष (1999-2000) के दौरान देशी उद्योग जगत लगातार इस खुशफहमी में जी रहा था कि मन्दी के काले बादल छंट रहे हैं। तमाम सरकारी-गैरसरकारी सर्वेक्षणों और आंकड़ों से फटाफट नतीजे निकालकर आर्थिक ''सुधारों'' के हिमायती अर्थशास्त्री, अखबारों के कलमनवीस बीमार अर्थव्यवस्था के भले-चंगे होने की भविष्यवाणियां करने लगे थे। लेकिन चालू वित्तीय वर्ष (2000-2001) के पहले दो महीनों (अप्रैल-मई) के औद्योगिक कारोबार से सम्बन्धित जो नये आंकड़े सामने आये हैं, उससे एक बार फिर उद्योग जगत में मायूसी का आलम छा गया है।

केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन (सी.एस.ओ) द्वारा जारी आंकड़ों के अनुसार मई 2000 में सामान्य औद्योगिक उत्पाद सूचकांक मार्च 2000 के 8.0 प्रतिशत की तुलना में नीचे गिरकर 5.5 प्रतिशत पर पहुंच गया है। सामान्य औद्योगिक उत्पादन सूचकांक की यह गिरावट उसके तीनों प्रमुख संघटक अवयवों—उपभोक्ता मालों, मध्यवर्ती मालों और पूंजीगत मालों के सूचकांकों में दर्ज की गई है। पिछले वित्तीय वर्ष की समाप्ति पर इनकी वृद्धि दर क्रमश: 12.2 प्रतिशत, 15.0 प्रतिशत और 4.8 प्रतिशत थी, किन्तु मई 2000 में यह क्रमश: 10 प्रतिशत, 3.7 प्रतिशत और -2.1 प्रतिशत दर्ज की गयी है। पिछले साल भर तक लगातार खुशफहमियों में जीने वाले उद्योग जगत के लिए ये आंकड़े बेचैनी पैदा करने के लिए काफी हैं।

दरअसल, उद्योग जगत और उसके हितचिन्तक बुद्धिजीवियों की मनोदशा एक-एक दिन मृत्यु से जूझ रहे किसी बीमार व्यक्ति के उन तीमारदारों जैसी हो गयी है जो बीमार की हालत में हल्के-फुल्के सुधार से उसके पूरी तरह ठीक हो जाने की खुशफहमी में जीने लगते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो पिछले साल भर खुशियां मनाने की कोई ठोस वजह नहीं थी। यह सही था कि वर्ष 1996-97 से लेकर तीन वर्षों तक सामान्य औद्योगिक उत्पादन सूचकांक में गिरावट की रुझान में वर्ष 1999-2000 में बदलाव दिख रहा था, (तालिका: 1) लेकिन यदि गहराई से छानबीन करने की मनोदशा होती तो आसानी से समझा जा सकता था कि सुधार के इन लक्षणों की वजहें बेहद तात्कालिक थीं।

तालिका : 1

वर्ष	औद्योगिक उत्पादन का सामान्य सूचकांक %
1994-95	8.4
1995-96	12.8
1996-97	5.6
1997-98	6.6
1998-99	3.9
1999-2000	8.0
2000-2001 (मई 2000 तक)	5.5

आंकड़ों से मनोनुकूल निष्कर्ष निकाल लेने की मनोगतता ने उद्योग जगत और सरकार को आंकड़ों की गहराई से छानबीन नहीं करने दिया। इस बात को लेकर विशेष उत्साह पैदा हो रहा था और ''कारोबारी प्रत्याशा'' हिलोरें ले रही थी कि विनिर्माण (मैन्युफैक्चरिंग) के क्षेत्र में वृद्धि दर दिखायी दे रही है।

असलियत जबकि यह थी कि उपलब्ध आंकड़ों से ही ऐसे संकेत साफ मिल रहे थे जिससे खुश होने की कोई वजह नहीं थी। वित्तीय वर्ष 1999-2000 की समाप्ति पर सी.एस.ओ. ने समग्र औद्योगिक विकास दर में वृद्धि का जो आंकड़ा जारी किया था, सिर्फ उससे भ्रमोत्पादक निष्कर्ष ही निकलते। लेकिन, यदि उपभोक्ता मालों, मध्यवर्ती मालों और पूंजीगत मालों—इन तीनों की अलग-अलग वृद्धि दर पर गौर किया जाता तो तस्वीर साफ हो जाती (तालिका : 2)।

तालिका : 2 से स्पष्ट है कि 1999-2000 में उपभोक्ता मालों एवं मध्यवर्ती मालों के क्षेत्र में तो 1998-1999 की तुलना में भारी वृद्धि दिखायी देती है, जबकि पूंजीगत मालों के क्षेत्र में भारी गिरावट का रुख दिखायी देता है। पूंजीगत मालों के क्षेत्र में गिरावट के इस रुख से यह साफ है कि उपभोक्ता मालों की बढ़ती मांग और उत्पादन क्षमता की उपयोगिता के स्तर में वृद्धि के बावजूद इसी अवधि में निवेश प्रोत्साहित नहीं हो रहा है।

1999-2000 में गैर पूंजीगत मालों के उत्पादन में वृद्धि दर बढ़ने के बावजूद घरेलू उत्पादन की जरूरतों को पूरा करने वाले आयातों में लगभग ठहराव की स्थिति बनी हुई थी। उदारीकरण के इस खुले माहौल में भी पेट्रोलियम पदार्थों के आयातों के अतिरिक्त अन्य आयातों की वृद्धि दर 1999-2000 में 1.36 प्रतिशत ही रही है। इसमें भी यदि रत्नाभूषण उद्योग जैसे कुछ निर्यात केन्द्रित उद्योगों के लिए होने वाले आयातों को गैर-पेट्रोलियम आयातों से निकाल दें तो यह वृद्धि दर नगण्य ही कही जायेगी।

आयात उदारीकरण के मौजूदा दौर में गैर-पेट्रोलियम आयातों में लगभग ठहराव की यह स्थिति और पूंजीगत मालों की उत्पादन वृद्धि दर में गिरावट से स्पष्टत: यह निष्कर्ष निकलता है कि उपभोक्ता मालों एवं मध्यवर्ती मालों के उत्पादन की वृद्धि दर की उठान के पीछे निश्चित ही कुछ तात्कालिक कारण रहे होंगे जिनकी ओर ध्यान दिये बगैर औद्योगिक मन्दी से उबरने की खुशियां खुशफहमियां ही साबित होतीं।

सच्चाई यही है कि वर्ष 1999-2000 में उपभोक्ता एवं मध्यवर्ती मालों की मांग के बढ़ने के निहायत तात्कालिक कारण थे। पहला कारण तो यह था कि वर्ष 1999-2000 में अच्छे मानसून के कारण कृषि क्षेत्र के उत्पादन में जो बढ़ोत्तरी हुई थी, उसके प्रभाव में 1999-2000 में उपभोक्ता मालों की मांग तात्कालिक रूप से बढ़नी ही थी। दूसरा एक प्रमुख तात्कालिक कारण था पांचवें वेतन आयोग की सिफारिशें लागू होने के बाद केन्द्रीय एवं राज्यकर्मियों के बढ़े हुए वेतनमानों के 'एरियर' का भुगतान। इसका भी असर उपभोक्ता मालों की मांग पर पड़ना ही था। सिर्फ यही दो कारण उपभोक्ता एवं मध्यवर्ती मालों के क्षेत्र में वर्ष 1999-2000 में उच्च वृद्धि दर दिखाने के लिए काफी थे।

तालिका : 2

	1998-99	1999-2000	मई 2000
उपभोक्ता मालों की वृद्धि दर	4.7	12.2	10.0
मध्यवर्ती मालों की वृद्धि दर	5.9	15.0	3.7
पूंजीगत मालों की वृद्धि दर	11.8	4.8	-2.1

इसलिए, इन तात्कालिक कारकों का असर खत्म होते ही नये वित्त वर्ष के पहले दो महीनों में ही औद्योगिक वृद्धि दर नीचे लुढ़क गयी। वर्ष 1999-2000 में खराब मानसून के असर से कृषि उत्पादन भी नीचे आ गया और 'एरियर' का एकमुश्त पैसा भी कब तक साथ देता।

औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि दर के उठान को सीमित अर्थों में भी यदि स्थायी होना है तो उसका संकेतक यही हो सकता था कि गैर पूंजीगत मालों के साथ ही पूंजीगत मालों की उत्पादन वृद्धि दर बढ़ती और गैर पेट्रोलियम आयातों का बिल बढ़ता। लेकिन, ऐसा नहीं हुआ जिससे स्पष्टत: यह अर्थ निकलता है उपभोक्ता मालों की बढ़ी हुई मांग के बावजूद औद्योगिक उत्पादक इस चीज के बारे में आश्वस्त नहीं थे कि भविष्य के उत्पादन के लिए जरूरी आयातित मालों का स्टॉक खाली हो पायेगा। इसलिए, उन्होंने इन मालों को आयात कर मंगाना जरूरी नहीं समझा। जबकि, आयातित पूंजीगत मालों के आधार पर निरन्तर बढ़ते उत्पादनों के इस दौर में उत्पादक इन मालों की मांग का अग्रिम अनुमान लगाकर अग्रिम स्टॉक कर लेना चाहते हैं।

मौजूदा औद्योगिक मन्दी के गर्त से बाहर निकलने की एक ही सूरत हो सकती है—बाजार का विस्तार। या तो घरेलू बाजार का दायरा बढ़े या बाहरी बाजार का, अर्थात निर्यात बढ़े। भारतीय पूंजीपति वर्ग और दुनिया के पूंजीपति वर्ग की आज यह आम बदकिस्मती बन चुकी है कि लाख गुणा-भाग के बाद भी यह बाजार बढ़ नहीं पा रहा है। आज के भूमण्डलीकृत विश्व अर्थतंत्र का यही तो ढांचागत संकट है। इधर कुआं, उधर खाई। मुनाफा बढ़ाने के लिए यदि लागत कम करने के फार्मूले के तहत छंटनी, तालाबंदी, तकनीकी उच्चीकरण के रास्ते पर चलते हैं तो इससे पैदा होने वाली बेकारी, भुखमरी बाजार को पहले से भी अधिक सिकोड़ देती है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देशों की आबादी के 10-15 प्रतिशत हिस्से के बाजार पर देशी पूंजीपतियों की भी जान अटकी है और इसी के लिए साम्राज्यवादियों की भी मारा-मारी है। इस सूरते हाल में विश्वव्यापी मन्दी से उबरने की कोई सूरत दिखायी नहीं देती है।

बेशक, निराशा की मन:स्थिति में छोटी-मोटी राहतें खुशफहमियां ही पैदा कर सकती हैं। देशी उद्योग जगत के साथ भी यही हो रहा है। लेकिन क्या करें, उनके सामने खुशफहमियों में जीने के अलावा कोई चारा भी तो नहीं है।

● शरद कुमार

नई आयात-निर्यात नीति
गुलामी का आयात—आजादी का निर्यात

''गुलामी का आयात—आजादी का निर्यात'' क्या ऐसी भी कोई नीति हो सकती है? इस बेतुके प्रश्न का सकारात्मक उत्तर है—नई आयात-निर्यात नीति। जिसने भारतीय बाजार को विदेशी मालों के लिए पूर्णत: खोल दिया है। साथ ही, देश को धनपशुओं के खुले चरागाह में तब्दील कर दिया है। सोना बेचने से लेकर आर्थिक सम्प्रभुता को किश्त-दर-किश्त गिरवी रखने की यात्रा का यह अगला विनाशकारी पड़ाव है। जिसमें भाजपा गठबन्धन सरकार ने विश्व व्यापार संगठन (wto) के समक्ष पूरी तरह घुटने टेक दिये हैं।

1994 में डंकल प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करने और फिर विश्व व्यापार संगठन का सदस्य बनने के बाद से ही भारतीय बाजार को खोलने के लिए साम्राज्यवादी देश दबाव डाल रहे थे। जाहिरा तौर पर भारतीय पूंजीपतियों की भी इसमें सहमति थी, क्योंकि विदेशी पूंजी का 'जूनियर पार्टनर' बन जाने की अपनी ऐतिहासि भूमिका को तय लेने के बाद उनकी भी जरूरत बन जाती थी कि पूरे भारत को खुले बाजार में बदल दिया जाये जिसमें विदेशी पूंजी के साथ मिलकर निरंकुश लूट की जा सके। देशी-विदेशी पूंजीपतियों की इस चाहत को उनकी मैनेजिंग कमेटी यानी सरकार ने तत्परता व कुशलता के साथ अमली जामा पहनाया और वाणिज्य मंत्री मुरासोली मारन ने अप्रैल, 2000 से नई आयात निर्यात नीति की घोषणा कर दी।

वाणिज्य मंत्री ने 714 वस्तुओं को मात्रात्मक प्रतिबन्धित व्यापार की पाबन्दी से मुक्त कर खुले आयात लाइसेंस श्रेणी के तहत कर दिया। विश्व व्यापार संगठन के निर्देशों का पालन करते हुए इस 'उदार' नीति में यह भी प्रावधान कर लिया गया कि शेष्ह 715 वस्तुओं पर से यह प्रतिबन्ध 31 मार्च, 2001 तक उठा लिया जायेगा। इसका परिणाम यह होगा कि कोई भी कम्पनी अब भारतीय बाजार में कोई भी वस्तु और कितनी ही मात्रा में आकर बेचेगी, इसके लिए उसे सरकार से कोई अनुमति लेने की जरूरत नहीं होगी। अब अमेरिका सहित तमाम अमीर देशों को अपना सामान समुद्र में फेंकने या नष्ट करने की जरूरत नहीं होगी। उसे वह भारत को निर्यात करेंगे और मुनाफा बटोरेंगे। माल अंधभक्ति के इस दौर में गर्म जेब हिन्दुस्तानियों का विदेशी ब्रांडो के प्रति जो मोह है, वह उत्प्रेरणा देगा। नई आयात-निर्यात नीति में निर्यात बढ़ाने के जितने भी दावे किये गये हों। लेकिन पूंजी का प्रवाह किस दिशा में होगा, यह आम आदमी भी समझ सकता है। पिछले वर्ष 'ड्राप्सी' की आड़ में खाद्य तेलों के आयात से ही यह स्पष्ट हो जाता है। जिसमें न केवल अरबों रुपये देश से बाहर गये, बल्कि तेल उद्योग और उससे जुड़े छोटे किसानों की कमर टूट गयी।

हालांकि आयात प्रतिबन्ध हटाने का सिलसिला तो पहले से ही चल रहा था। लेकिन जिन वस्तुओं के आयात को यह कहर प्रतिबन्धित किया गया था कि यह देश के हितों को जबर्दस्त नुकसान पहुंचायेगी, भाजपा सरकार ने देश हित पर कुठाराघात करते हुए उस सुरक्षा बांध को भी खत्म कर दिया। तबाही-बर्बादी की बाढ़ तो आनी ही है। 31 मार्च, 1999 को तत्कालीन वाणिज्य मंत्री रामकृष्ण हेगड़े ने 814 वस्तुओं को आयात प्रतिबन्ध से मुक्त किया था। शेष वस्तुओं के आयात को खुला करने के लिए आस्ट्रेलिया और यूरोपीय देश तो वर्ष 2003 तक की मोहलत देने के लिए तैयार थे। लेकिन अमेरिका की धमकी और भाजपा की, पूंजीपतियों की बेहतरीन हितसेविका बनने की, उत्कट लालसा ने बाजार को वर्ष 2000 में ही पूरी तरह खोल दिया।

नई नीति के तहत आयात प्रतिबन्ध से 60 ऐसी वस्तुएं मुक्त की गई हैं जो अभी तक लघु उद्योग के लिए आरक्षित थीं। इसके अलावा कृषि उत्पाद हैं और दैनन्दिन उपभोग की वस्तुएं हैं; जिन पर आयात प्रतिबन्ध हटने का मतलब है—करोड़ों मजदूरों, छोटी जोत के किसानों, मछुआरों और छोटे-छोटे धंधों में लगे लोगों की तबाही। जाहिर है विशाल बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के सामने प्रतिस्पर्द्धा में देश का लघु उद्यमी, छोटा उत्पादक नहीं टिक सकता। इसके साथ परम्परागत उद्योगों और तमाम देशी उद्योग-धंधों पर इसका जबर्दस्त कुप्रभाव पड़ेगा। पिछले वर्षों में चीनी आयात करने के निर्णय ने चीनी उद्योग को इस स्थिति में पहुंचा दिया है कि आज 220 चीनी मिलें (लगभग एक तिहाई) बन्द पड़ी हैं। उदार आर्थिक नीतियों ने कपड़ा उद्योग को जिस

हाल में खड़ा कर दिया है, उसका अन्दाजा बंद पड़ी तीन सौ से ज्यादा कपड़ा मिलों ओर उसके बेकार मजदूरों तथा बुनकरों की आये दिन आत्महत्या की खबरों से लगाया जा सकता है।

नई आयात-निर्यात नीति की मार खाने वाले उद्योग-धंधों की फेहरिस्त बहुत लम्बी होगी। कृषि क्षेत्र में आयात उदारीकरण का कपास, रबर, तिलहन, तम्बाकू, काजू, मसाले इत्यादि उत्पादक किसानों पर पड़ा असर तो अभी दिखाई पड़ रहा है। प्याज और सरसों के तेल के संकट को बीते ज्यादा समय नहीं हुआ है। अगर इस रोशनी में देखें तो आने वाले वर्षों में गम्भीर खाद्यान्न संकट से इन्कार नहीं किया जा सकता। खाद्यान्नों के आयात को खुला करने के बाद देशी उत्पादक उसी फसल को उगायेगा, जिसमें मुनाफा ज्यादा होगा। खाद्यान्न के सस्ते आयात, बाजार और कीमतों को जिस तरह प्रभावित करेंगे उनमें जीने के लिए खेती करने वाला किसान और आम आदमी लगातार मुश्किलों का सामना करेंगे।

वाणिज्य मंत्री मुरासोली मारन ने आश्वासन दिया है कि खुले आयात का यदि कोई प्रतिकूल असर दिखा तो सरकार आयात शुल्क लगाने के अपने हथियार को इस्तेमाल करने से नहीं हिचकेगी साथ ही घरेलू उद्योगों को सीमा शुल्क की ऊंची दरों के माध्यम से संरक्षण मिलता रहेगा। 'स्वदेशी' के प्रसार की और विकसित देशों के आगे न झुकने की कसम खाने वाली सरकार के वाणिज्य मंत्री का यह आश्वासन संदेह पैदा करता है। हकीकत यह है कि सीमा शुल्क लगातार घटाये जा रहे हैं। इसी सरकार के वित्त मंत्री सीमा शुल्कों को एशियाई स्तर पर लाने और कम करने की बात कर रहे हैं। 1990-91 में जहां सीमा शुल्क से जी.डी.पी. (सकल घरेलू उत्पाद) का 3.6 प्रतिशत राजस्व प्राप्त होता था वहीं 1999-2000 में यह घटकर 2.5 प्रतिशत रह गया है। आयात पर लगाया जाने वाला शुल्क 1991 में 355 प्रतिशत था जो वर्तमान बजट में 35 प्रतिश है। सीमा शुल्क सम्बन्धी सरकारी नीति सरकार की नीयत को स्पष्ट कर देती है। आयात नीति को इस कदर उदार बनाने का 'साहस' तो अमेरिका भी नहीं दिखा सकता।

पिछले कुछ वर्षों के अनुभव से यह कहा जा सकता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियां कारोबार करने के नाम पर छल-बल से लूट-खसोट करती हैं। सरकार द्वारा दी जा रही रियायतें ही उनके लिए पर्याप्त नहीं होतीं। यह तो उनकी डकैती के लिए जमीन जगह मुहैया कराना भर है। भारत में कारोगार कर रही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने पिछले तीन सालों में 675 करोड़ रुपये से ज्यादा की उत्पाद शुल्क व सीमा शुल्क की चोरी की है। 1400 करोड़ रुपये से भी ज्यादा की आयकर चोरी की है। यह तो सरकारी आंकड़े हैं। इसके अलावा आमदनी का झूठा ब्यौरा देना, काले धन का गोलमाल, माल की हेराफेरी, बिलों के घपले आम बात हैं। लेकिन लुटेरों के इन अपराधों पर न तो फिक्की, एसोचैम कोई टिप्पणी करते हैं और न ही सरकार कोई कार्रवाई करती है। उल्टे इन्हें 'सांताक्लाज' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

नई आयात-निर्यात नीति में निर्यात बढ़ाने के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्र गठित किये जाने पर जोर है। मुम्बई, विशाखापत्तनम, कांडला और कोच्चि के मौजूदा निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों को विशेष आर्थिक क्षेत्रों में बदलने की योजना है। विशेष आर्थिक क्षेत्र की इकाइयां देश के आयात-निर्यात नियमों से पूरी तरह मुक्त होकर कारोगार करेंगी। निर्यात सम्भावनाओं के लाभ को उठाने के लिए राज्यों को 250 करोड़ रुपये का अनुपूरक बजट आबंटित करने का निर्णय लिया गया है। विशेष आर्थिक क्षेत्र की इकाइयों को कच्चे माल और मशीनों के आयात पर कोई शुल्क नहीं देना होगा।

नई नीति में विदेशी पूंजी को आकर्षित किया गया है कि वह भारत में आकर निर्यात को बढ़ाये। विश्व व्यापार संगठन के आदेश और अपने गुरू जैफ्री साक्स की सलाह को क्रियान्वित करते हुए मारन ने विशेष्ज्ञ आर्थिक क्षेत्रों की घोषणा की है। लेकिन मारन साहब ने इस मौके पर यह खुलासा नहीं किया कि पूर्व में जो बहुराष्ट्रीय कम्पनियां जिन शर्तों पर कारोबार करने भारत आईं थीं, क्या उन्होंने वे शर्तें पूरी कीं? क्या उन्होंने अपने निर्यात सम्बन्धी वायदों को पूरा किया? क्या वे उसी क्षेत्र में कारोबार कर रही हैं जिसका उन्हें लाइसेंस मिला था? ये प्रश्न अनुत्तरित नहीं हैं, किन्तु सरकार के लिए इन पर मौन रहना ही उचित है। क्योंकि ये उसके निर्यात सम्बन्धी दावों की पोल खोल देंगे।

यह कहा जा रहा है कि विशेष आर्थिक क्षेत्र चीन की तर्ज पर गठित किये जा रहे हैं। सख्त कानून होने से विदेशी पूंजी के निवेश में बाधा न पहुंचे, इसके लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों में तमाम पाबन्दियों को खत्म किया जा रहा है। यह पाबन्दियां जिन दलीलों के आधार पर समाप्त की गई हैं, उनसे स्पष्ट है कि इन क्षेत्रों में श्रम कानूनों में ''विशेष छूट'' होगी। मजदूरों का निर्मम शोषण होगा। लम्बे संघर्षों से अर्जित अधिकारों को इन निर्यात संवर्धन क्षेत्रों में बचाये रखना नामुमकिन होगा। अभी निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों में मजदूरों की जो स्थिति है, वह विशेष मुक्त व्यापार क्षेत्रों में श्रमिक जगत के हालात को बता देता है।

अभी तो दो राज्यों में, पहला, गुजरात में पोतीसरा और दूसरा, तमिलनाडु में नानगुनेरी में ये विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित किये गये हैं। आने वाले दिनों में ये पूरे देश भर में होंगे। इन क्षेत्रों में पैदा होने वाले उत्पाद को सामान्य शुल्क चुकाकर उन्हें घरेलू बाजार में बेचने की भी अनुमति दी गई है। इन क्षेत्रों का उत्पादक चाहे तो निर्यात करे या फिर घरेलू बाजार में बेचे, यह उसका अपना निर्णय होगा। आयात और निर्यात दोनों के सम्बन्ध में सरकार ने जो नीति बनाई है, उससे ढांचागत क्षेत्र में पूंजी निवेश होना या निर्यात बढ़ाकर वित्तीय स्थिति को मजबूत करना आदि बातें हवाई गोले भर है। असलियत यह है कि नई आयात-निर्यात नीति हिन्दुस्तान को लूटने की देशी-विदेशी पूंजीपतियों को दी गई खुली गारण्टी है।

● ललित सती

नये श्रम कानूनों का सूत्र वाक्य : 'हायर एंड फायर'

श्रम मंत्रालय ने श्रम कानूनों में सुधार सम्बन्धी अपनी सिफारिशें कैबिनेट को भेज दी हैं। इस तरह उदारीकरण-निजीकरण की राह में रोड़ा बने हुए श्रम कानूनों में ''सुधार'' करने का फैसला आखिरकार ले ही लिया गया। लम्बे समय से देशी-विदेशी पूंजीपति श्रम सुधारों की मांग कर रहे थे। भूमण्डलीकरण की नीतियों के परिणामों का पूर्वाभास भी शासक वर्ग को नई रणनीति बनाने को मजबूर कर रहा था। साथ ही, संगठित श्रमशक्ति को तोड़कर उसे असंगठित मजदूर में तब्दील करना और मजदूरों के खून की अन्तिम बूंद तक निचोड़कर मुनाफा कमाने की हवस को कानूनी वैधता प्रदान करना जरूरी हो गया था।

नये श्रम कानूनों का सूत्र वाक्य होगा 'हायर एण्ड फायर'। यानी, जब चाहो काम पर रखो, जब चाहो निकाल बाहर करो। रोजगार सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं। ठेका रोजगार

नियमन सम्बन्धी कानून में भी संशोधन किया जा रहा है। नये प्रस्तावित विधेयक में ठेका प्रथा के उन्मूलन का कोई प्रावधान नहीं रखा गया है। जबकि ठेका रोजगार (नियमन एवम् उन्मूलन) अधिनियम, 1970 ठेका मजदूरों को नियमित करने तथा ठेका प्रथा के उन्मूलन की बात करता था। जिसके उल्लंघन पर सजा और जुर्माने की व्यवस्था की गई थी। लेकिन नया प्रस्तावित विधेयक मामूली जुर्माने तक सीमित है।

श्रम मंत्रालय की सिफारिशों में एक है औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अध्याय 5-बी को पूरी तरह हटा लेने की सिफारिश। इसके हटने से अभी तक जो कमोबेश रोजगार सुरक्षा गारण्टी थी वह भी खत्म हो जायेगी। यानी मजदूर पूरी तरह मालिक की मर्जी का गुलाम हो जायेगा। कहने को तो उत्पादकता बढ़ाने, गुणवत्ता सुधारने, बेहतर सेवायें देने और श्रम संस्कृति बहाल करने की बातें की जा रही हैं। परन्तु कौन नहीं जानता कि यह तो शिकारी की ओट है। शिकार स्पष्ट है और निशाना शिकार पर ही है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अध्याय 5-बी को पूरी तरह हटा लेने के बाद इसकी विभिन्न धाराओं के तहत मजदूरों को प्राप्त रोजगार सुरक्षा का कानूनी हथियार पूर्णतया छिन जायेगा। औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 की धारा 25 उपधारा 'एम' के अनुसार किसी भी कम्पनी या उद्योग में सरकार की अनुमति के बगैर 'ले ऑफ' नहीं हो सकता। धारा 25 एन के अनुसार एक साल काम कर चुके कर्मचारी की छंटनी करने से पूर्व उसे तीन महीने का नोटिस देना अनिवार्य है। नये श्रम कानून लागू होने के बाद छंटनी-तालाबंदी और 'ले ऑफ' पर लगा कानूनी अंकुश खत्म हो जायेगा। अब पूंजीपति की मर्जी होगी जब जैसे चाहे उद्योग चलाये जब चाहे मजदूरों के पेट पर लात मार दे।

औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 की धारा 25- ओ के तहत किसी भी कम्पनी अथवा उद्योग को बन्द करने से पहले सरकार से इजाजत की अनिवार्यता है। बन्दी से 90 दिन पहले कम्पनी को इसके लिए आवेदन करना पड़ता है। इस आवेदन की प्रतियां कर्मचारियों को भी देना जरूरी होता है। जाहिर है यह धारा मुनाफाखोरों के अनुरूप नहीं है। ऐसा नहीं है कि इसका कड़ाई से पालन किया जाता था। कानून तो आम जनता के लिए होते हैं, धनिकों के लिए नहीं। यदि इस धारा को समाप्त कर दिया जाये तो पूंजीपति को कोर्ट-कचहरी के स्वांग के झंझट से भी मुक्ति मिल जायेगी। और मनचाहे तरीके से उद्योग बन्द करने, एक उद्योग को बन्द कर दूसरे उद्योग में पूंजी लगाने, एक क्षेत्र में सब्सिडी खाकर दूसरे क्षेत्र में शिफ्ट कर जाने का रास्ता साफ हो जायेगा।

नये श्रम कानूनों में मजदूरों के एकजुट, एकस्वर होने के 'प्लेटफार्म' खत्म किये जा रहे हैं। उनके संगठित होकर अपनी न्यायोचित मांगों के लिए संघर्ष करने के रास्ते बंद किये जा रहे हैं। पूरे श्रमिक जगत की घेराबंदी की जा रही है कि कोई विरोध का स्वर न उठने पाये। लम्बे संघर्षों से अर्जित सीमित जनवादी अधिकारों को भी राज्य कुचलने पर आमादा है। ट्रेड यूनियन आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 में संशोधन करने जा रही है। इस एक्ट में संशोधन हेतु जो प्रस्ताव पेश किये गये हैं, वह सरकार की मंशा को स्पष्ट कर देते हैं।

ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 के अनुसार कम से कम सात लोगों के अनुमोदन से ट्रेड यूनियन का पंजीकरण कराया जा सकता है। किन्तु नये प्रस्ताव के अनुसार कम से कम दस प्रतिशत कार्यबल का अनुमोदन होना जरूरी है। इस संख्या को बढ़ाने के बारे में सरकार कहती है कि इससे पंजीकृत ट्रेड यूनियनों की संख्या कम रहेगी और मैनेजमेण्ट के लिए वार्ता करना आसान होगा। जबकि उसका मन्तव्य है कि नये प्रावधान से ट्रेड यूनियन पंजीकृत ही नहीं हो पायेगी और मैनेजमेण्ट को लूट की खुली छूट होगी। ट्रेड यूनियन एक्ट 1926 के अनुसार किसी कम्पनी या उद्योग की रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन में पचास प्रतिशत तक बाहर के लोग हो सकते थे। नये प्रस्ताव में इसे एक तिहाई कर दिया गया है। इसके चलते न केवल नौकरी से निकाले गये, मैनेजमेण्ट के षड्यंत्र के शिकार मजदूर यूनियन से बाहर हो जायेंगे बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि घोर दमनकारी स्थितियों में यूनियन बनाने, उसमें राजनीतिक विचारों के प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया बाधित होगी। मालिकान की जेबी यूनियनें ही बन पायेंगी।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन को तबाह करने तथा भावी मजदूर आन्दोलनों को निर्ममतापूर्वक कुचलने के सरकारी इरादे स्पष्ट हैं। पिछले दिनों सरकारी, गैर सरकारी क्षेत्रों में हुए आन्दोलनों-हड़तालों के प्रति शासन तंत्र का सुलूक इसका गवाह है। आन्दोलनकारियों से आतंकवादियों की तरह व्यवहार किया गया है। रासुका, एस्मा जैसे कानूनों की वकालत की गई। सरकार ने नई आयात-निर्यात नीति के तहत जो विशेष आर्थिक क्षेत्र बनाये हैं, उनमें अपनी जायज मांगों के लिए संघर्ष को भी गैर कानूनी घोषित करने की बातें की जा रही हैं। उसमें एस्मा से लेकर तमाम हिंसक तरीकों से आंदोलन दबाया जायेगा। यह क्षेत्र ''श्रम-पूंजी सद्भाव'' के सरकार द्वारा प्रस्तुत मॉडल होंगे।

एक के बाद एक मजदूर विरोधी नीतियां बन रही हैं। काले श्रम कानून बनाये जा रहे हैं। साम्राज्यवादी देशों और देशी पूंजीपतियों के निर्देशों को सरकार सफाई से 'मैनेज' करते हुए अमल में ला रही है। लेकिन मजदूर हितों के स्वंयभू रक्षक ट्रेड यूनियन नेतृत्व को जिस वक्त मैदाने जंग में उतरकर अपने लम्बे संघर्षों की रणनीति को प्रस्तुत करना चाहिए, उस वक्त वह काठ के घोड़े की सवारी की तरह रस्मी कवायद करने में लगा है। मजदूरों को अपना पिछलग्गू बना, संसदीय बहसबाजों की तरह बातबहादुरी करके ही आत्ममुग्ध है। क्या यह एक महत्वपूर्ण वजह नहीं है जिससे कि पिछले दस सालों में तमाम सरकारों ने घोर जनविरोधी नीतियों को बेरोकटोक लागू किया है। सारी चुनावबाज पार्टियों ने इन नीतियों का समर्थन किया है। पूंजीवादी मीडिया ने भी चारण-भाट की भूमिका को बखूबी अंजाम दिया। किन्तु मजदूर आन्दोलन अभी मीरजाफरों-जयचंदों के मकड़जाल में ही उलझा हुआ है।

काले श्रम कानूनों के विरोध का सवाल भी पूरे अर्थतंत्र-समाजतंत्र के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। यदि हमारे पास निजीकरण-उदारीकरण नीतियों का कारगर व्यावहारिक विकल्प नहीं होगा तो हम लम्बी लड़ाई का कार्यक्रम नहीं बना सकते। आज हकीकत यह है कि ट्रेड यूनियन नेतृत्व किसी न किसी संसदीय पूंजीवादी या सुधारवादी या कथित वामपंथी पार्टी के साथ नत्थी है और ज्यादा से ज्यादा नेहरूकालीन मिश्रित अर्थव्यवस्था की बहाली का कार्यभार पेश करता है। पूंजीवाद की चौहद्दी को अन्तिम तौर पर स्वीकार कर वह सिर्फ भौतिक ही नहीं बल्कि आत्मिक तौर पर भी पराजित हो चुका है।

इन स्थितियों में पूरे ट्रेड यूनियन आन्दोलन में क्रान्तिकारी पुनर्जागरण की लहर पैदा किये बिना मजदूर आन्दोलन को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। इस पर भी स्पष्ट होना होगा कि बाजार की बेरहम अराजकता का विकल्प पूंजीवादी नियोजित अर्थव्यवस्था नहीं, बल्कि समाजवादी नियोजन ही हो सकता है।

● ललित सती

भारत-इस्रायल सम्बन्ध : दूरियां क्यों बनीं नजदीकियां?

भारत और इस्रायल के बीच बढ़ती नजदीकियों को सिर्फ हिन्दुत्ववादी और जियनवादी विचारधाराओं के स्वाभाविक मिलन के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। यह शीतयुद्धोत्तर कालीन दुनिया में दोनों देशों के शासकों की नयी पैदा हुई जरूरतों का खतरनाक मिलन है।

1995 में जब लालकृष्ण आडवाणी विपक्ष में रहते हुए भाजपा नेता की हैसियत से इस्रायल की यात्रा पर गये थे तब यह बात कही जा सकती थी कि विचारधारात्मक एकता से पैदा हुआ लगाव उन्हें खींच ले गया था क्योंकि अपने-अपने देश के विशेष सन्दर्भों में दोनों ही विचारधाराएं मुस्लिम विरोध की एक समान जमीन पर खड़ी हैं। बहुतेरी अन्य समानताएं भी हैं। लेकिन विगत जून महीने के अन्तिम पखवारे में थोड़े अंतराल पर लाल कृष्ण आडवाणी और जसवन्त सिंह भारतीय शासकों के प्रतिनिधियों के बतौर तेल अवीव गये थे। इन भाजपाई प्रतिनिधियों के अतिरिक्त शासकों के दो अन्य वफादार गैर भाजपाई प्रतिनिधि राज्यसभा की उपसभापति नजमा हेपतुल्ला एवं ज्योति बसु भी यरूशलम में मत्था टेक आये हैं। जाहिर है कांग्रेसी नजमा हेपतुल्ला और ''वामपन्थी'' महारथी ज्योति बसु को जियनवाद से किसी किस्म के विचारधारात्मक लगाव ने यरूशलम की यात्रा के लिए प्रेरित नहीं किया होगा।

ज्योति बसु ने 1997 एवं 1998 में भी इस्रायल यात्रा का आमंत्रण स्वीकार किया था, लेकिन शायद उस समय वह उतनी विचारधारात्मक बेहयाई दिखाने का साहस नहीं जुटा पाये थे और आखिरी वक्त पर यात्राएं रद्द कर दी थीं। फिर पिछले साल उनकी पार्टी की ओर से खुर्राट सांसद सोमनाथ चटर्जी को सरकारी अधिकारियों की एक भारी-भरकम टीम के साथ भेजकर इस बेहयाई का 'ग्रैण्ड रिहर्सल' किया गया। और आखिरकार ज्योति बसु भी लन्दन से लौटते समय पिछले दिनों 'समाजवादी' मार्का ''किब्बुत्ज'' नामक यहूदी सामूहिक फार्म देखने के बहाने यरूशलम में मत्था टेककर लौट आये हैं। ज्योति बसु की इस्रायल यात्रा का इस्रायली शासकों के लिए कितना अधिक महत्व है इसका अनुमान भारत में इस्रायली राजदूत येहोयादा हेम के बयान से लगाया जा सकता है। हेम के अनुसार हाल के दिनों तक भारत और इस्रायल के बीच सिर्फ आर्थिक और रक्षा मामालों में मजबूत सम्बन्ध कायम थे लेकिन दोनों देशों के आर्थिक एवं राजनीतिक रिश्तों में एक भारी खाई थी। लेकिन अब यह अतीत की चीज बन चुकी है और इसमें ज्योति बसु की इस्रायल यात्रा ने उत्प्रेरक की भूमिका निभाई है। इस्रायली राजदूत के अनुसार ज्योति बसु द्वारा उनके देश की राजकीय यात्रा स्वीकारने के निर्णय ने हमें यह भरोसा दिलाया है कि उनका देश अब भारत की सभी राजनीतिक पार्टियों द्वारा स्वीकार्य है, यहां तक कि वामपन्थियों द्वारा भी।

जाहिर है कि शीतयुद्धोत्तर कालीन दुनिया में भारतीय शासक वर्गों की कुछ नयी अपरिहार्य जरूरतें पैदा हुई हैं, जिन्होंने संसदीय वामपंथियों तक को इतना बेहया बन जाने पर मजबूर किया है कि कल तक जिस देश से कूटनीतिक रिश्ते तक कायम करना एक विचारधारात्मक पाप और रणनीतिक मूर्खता मानी जाती थी आज उस देश से प्रेम की पींगें बढ़ाई जा रही हैं। क्या हैं ये जरूरतें?

दरअसल, शीतयुद्ध काल में भी इस्रायल से भारत की दूरियां भारतीय शासक वर्ग की न्यायप्रियता या किन्हीं सैद्धान्तिक आग्रहों के कारण नहीं थीं। फिलीस्तीनी मुक्ति संघर्ष या समूचे अरब जगत से दोस्ताना रिश्ते उसके वर्गीय आर्थिक-राजनीतिक स्वार्थों से ही प्रेरित थे। शीतयुद्ध काल में विश्व स्तर पर वर्ग-शक्ति-सन्तुलन का जो स्वरूप था उसमें भारतीय शासक वर्ग प्रमुखत: सोवियत सामाजिक साम्राज्यवादी खेमे की ओर झुकाव रखते हुए 'गुटनिरपेक्ष आन्दोलन' की नीति पर चलते हुए एक हद तक अमरीकी साम्राज्यवाद विरोधी खेमे के साथ आर्थिक-राजनीतिक रिश्ते कायम रखने की नीति का पक्षधर था। इसी नीति के तहत उसने फिलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष को सहयोग-समर्थन दिया और इस्रायल से प्रकट दूरी बनाये रखी थी। लेकिन, अप्रकट तौर पर यानी गुपचुप ढंग से उस दौर में भी भारतीय शासकों ने सैन्य आदान-प्रदान करने की हर सम्भावना को निचोड़ने की कोशिश की थी। कुख्यात इस्रायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' की मदद से 1978 में मोरारजी देसाई के प्रधानमंत्रित्वकाल में इस्रायली प्रधानमंत्री मोशे दयान की गोपनीय यात्रा इसका एक उदाहरण है।

लेकिन, सोवियत खेमे के पतन के बाद विश्व स्तर पर वर्ग-शक्ति-सन्तुलन का स्वरूप बदल चुका है। भारतीय शासक पूंजीपति वर्ग अपनी आन्तरिक जरूरतों एवं मजबूरियों से अमेरिकी वित्तीय पूंजी की अगुवाई में विश्व पूंजीवादी अर्थतंत्र में नये सिरे से व्यवस्थित होने की कोशिश कर रहा है। विश्व स्तर पर अब वह मुख्यत: आर्थिक हितों से परिचालित होकर अपने आर्थिक-राजनीतिक सैन्य सम्बन्धों को नयी शक्ल दे रहा है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया शुरू होने के बाद मध्यपूर्व के देशों के साथ उसके नये रिश्ते भी इसी जमीन पर कायम हो रहे हैं।

ओस्लो समझौते के जरिये फिलिस्तीनियों को स्वायत्तता हासिल होने के बाद अब फिलिस्तीनी मुक्ति का प्रश्न ऐतिहासिक रूप से तयशुदा प्रश्न हो चुका है। अब यरूशलम की स्थिति और अन्य मसले मुख्यत: कूटनीतिक वार्ताओं के जरिये ही हल होने हैं। हिजबुल्ला मुजाहिदीनों के नेतृत्व में चलने वाले छिटपुट संघर्षों का अब फिलिस्तीन का नेतृत्व कूटनीतिक वार्ताओं के दौरान एक दबाव के रूप में इस्तेमाल अधिकतम सम्भव उपलब्धियों को अपने पक्ष में करने के लिए ही करता है। उधर सीरिया और मिस्र जैसे अरब देश भी बदली हुई विश्व परिस्थितियों में इस्रायल के साथ अपने रिश्तों को पुनर्परिभाषित करने की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। शीत युद्ध के खात्मे के बाद अब इस्रायल को भी अमेरिकी छाते की उस रूप में जरूरत नहीं रह गयी है, इसलिए वह अब कुछ मसलों पर अमेरिका की नाराजगी मोल लेकर भी भारत और चीन से अपने स्वतंत्र आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक रिश्ते कायम कर रहा है।

इन्हीं नयी परिस्थितियों में भारत-इस्रायल सम्बन्धों के एक नये दौर की शुरुआत 1990 के दशक में हुई जब 1992 में तत्कालीन इस्रायली विदेश मंत्री शिमोन पेरेज की भारत यात्रा के बाद कूटनीतिक रिश्ते बहाल हुए। इसके बाद पिछले एक दशक में दोनों देशों के रिश्तों में आयी प्रगाढ़ता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि अमेरिकी एतराज के बावजूद इस्रायल ने अत्याधुनिक रक्षा एवं खुफिया प्रणाली 'अवाक्स' (AWACS, AIR-BORNE Warning and Control System) को भारत को बेचने से गुरेज नहीं किया। कारगिल

युद्ध के दौरान भारत सरकार ने इस्रायल से हथियारों की भारी खरीदारी की भी और इस्रायल ने बेहद उन्नत खुफिया एवं रक्षा तकनोलाजी भी भारत को मुहैया करायी थी। पिछले दशक में दोनों देशों के आर्थिक रिश्तों में आयी नजदीकी का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि दोनों देशों के बीच व्यापार इस अवधि में 20 करोड़ डालर से बढ़कर एक अरब डालर तक पहुंच चुका है और दोनों देशों की कम्पनियों के बीच 150 संयुक्त उपक्रम कायम हो चुके हैं।

आडवाणी और जसवन्त सिंह की ताजा यात्राओं के बाद दोनों देशों के शासक और करीब आये हैं। आतंकवाद से निबटने के नाम पर राज्य प्रायोजित कत्लेआमों और राजनीतिक हत्याओं के मामले में इस्रायली राज्य मशीनरी और उसके महत्वपूर्ण अंग के रूप में खुफिया मशीनरी के क्षेत्र में इस्रायली विशेषज्ञता का लाभ उठाने के लिए भारतीय शासक इन दिनों काफी आतुर हैं। दोनों देशों के बीच एक उच्चस्तरीय राजनीतिक-सैन्य संयुक्त कार्यदल का गठन हो चुका है जिसकी नियमित बैठकें हुआ करेंगी। इतना ही नहीं, अब चर्चा यह भी चल पड़ी है कि कुख्यात इस्रायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' का कार्यालय भी एफ.बी.आई. की तर्ज पर भारत में खोला जाये। भाजपा के राम जेठमलानी जैसे कई महत्वपूर्ण मंत्री इसकी खुली वकालत कर चुके हैं।

इस्रायल ही नहीं अब भारत मध्य पूर्व में तुर्की एवं मोरक्को जैसे अमेरिकी खेमे के देशों के साथ भी नये सिरे से रिश्ते कायम कर रहा है जो आज मध्य पूर्व में उसकी नयी रणनीति का अंग है। लेकिन, इसका मतलब यह नहीं कि वह शेष अरब जगत से पूरी तरह कट जाना चाहता है। भारतीय शासकों की नयी विदेश नीति भूमण्डलीकरण के दौर की नयी आर्थिक-राजनीतिक-सामरिक जरूरतों से निर्धारित हो रही है। अरब जगत के उसके पुराने मित्रों से रिश्ते खत्म करना भी उसके हितों के अनुकूल नहीं है। इसीलिए, जब इस्रायल यात्रा के दौरान रिश्तों में आयी नयी मधुरता की बहक में आडवाणी के मुंह से दोनों देशों के बीच नाभिकीय कार्यक्रमों में सहयोग की बात निकल गयी तो अरब जगत की स्वाभाविक नाराजगी को शान्त करने के लिए दिल्ली लौटने के बाद उन्हें बयान देना पड़ा कि मीडिया ने उनकी बात को गलत प्रस्तुत किया था।

इन्हीं नयी विश्व परिस्थितियों और भारत-इस्रायली शासकों की नयी जरूरतों के मद्देनजर दोनों के बीच की पुरानी दूरियां आज नयी नजदीकियों में बदल चुकी हैं।

● अरविन्द सिंह

अमेरिका की नयी मिसाइल-रोधी रक्षा प्रणाली : साम्राज्यवादी वर्चस्व को बचाने की हताशाभरी कोशिश

पिछली 8 जुलाई को अपनी नयी मिसाइल-रोधी रक्षा प्रणाली से सम्बन्धित तीसरे परीक्षण की असफलता के बाद भी अमेरिका हाथ पीछे खींचने वाला नहीं है। इसके पहले भी हुए दो परीक्षणों में से सिर्फ एक को सफलता मिली थी। लेकिन अपने साम्राज्यवादी वर्चस्व को बचाये रखने की मजबूरियां इस कोशिश को आगे भी जारी रखने के लिए उत्प्रेरक बनी रहेंगी।

पिछले 15 वर्षों के दौरान अमेरिका ने इस नये सैन्य प्रोजेक्ट पर 60 अरब डॉलर से भी अधिक खर्च किये हैं, लेकिन अभी तक काम करने लायक प्रणाली विकसित नहीं हो पायी है। अब इस तीसरे प्रयोग की असफलता से अमेरिकी मंसूबों को एक जबर्दस्त धक्का लगा है। फिलहाल ऐसा लगता नहीं कि अपना कार्यकाल खत्म होने तक बिल क्लिण्टन नयी प्रणाली की कामयाबी का मुंह देख पायेंगे।

अमेरिका की इस नयी मिसाइल रक्षा प्रणाली से, जिसे कुछ टिप्पणीकार 'स्टार वार्स-II' श्रृंखला भी कह रहे हैं, रूस सहित सभी यूरोपीय संघ के देश कतई खुश नहीं हैं और वे बार-बार इससे हाथ पीछे खींच लेने का आग्रह करते रहे हैं। लेकिन अमेरिका अब तक इसपर अड़ा हुआ है और इसकी जरूरत और महत्ता के बारे में अपने नाखुश बिरादरों को तरह-तरह से समझाने की कोशिश करता रहा है। अमेरिका की 'नाटो' बिरादरी इस बात से चिन्तित है कि इस नयी प्रणाली के अस्तित्व में आने से समूचे यूरोप में शक्ति-सन्तुलन बिगड़ जायेगा और सबसे अधिक नुकसान यूरोप को ही उठाना पड़ेगा। अमेरिका प्रमुख रूप से यह तर्क देकर उन्हें संतुष्ट करने की कोशिश करता रहा है कि यह उत्तर कोरिया एवं इराक जैसे "दुष्ट राज्यों" के खिलाफ केन्द्रित है। यूरोप को घबराने की जरूरत नहीं है। लेकिन साम्राज्यवादी एक दूसरे के मंसूबों को अच्छी तरह ताड़ लेते हैं, सो यूरोपीय संघ को अमेरिकी तर्क कहीं से भी आश्वस्त नहीं कर पा रहा है।

अभी इस परीक्षण के लगभग एक महीने पहले क्लिण्टन ने अपनी यूरोप यात्रा के दौरान भी अपनी नयी रक्षा प्रणाली के लिए रूस और अन्य यूरोपीय देशों को मनाने की भरपूर कोशिश की, लेकिन कामयाबी नहीं मिल सकी। उन्होंने अपनी आशंकाएं फिर प्रकट कीं और अमेरिका से फिर आग्रह किया कि वह अपने हाथ पीछे खींच ले।

जून के पहले सप्ताह में लिस्बन में आयोजित अमेरिका-यूरोपीय संघ की शिखर वार्ता में भाग लेने के बाद क्लिण्टन जर्मनी, रूस और उक्रेन की यात्रा पर गये। बर्लिन में आपसी वार्ताओं के साथ ही संयुक्त प्रेस कांफ्रेंस में भी जर्मन चांसलर गेर्हार्ड श्रोडर अपनी आशंका और चिन्ता प्रकट करने से खुद को रोक नहीं सके और कहा कि नयी अमेरिकी योजना में अन्तर्निहित अन्तरविरोध हैं। मास्को में भी नये रूसी राष्ट्रपति व्लादिमीर पुतिन से क्लिण्टन की मुलाकात बेहद ठण्डी और औपचारिक थी। कई राजनीतिक टिप्पणीकारों ने अपने बारीक प्रेक्षणों के बाद यह लिखा कि इस बार क्लिण्टन के अन्दाज में वह गर्मजोशी नहीं दिखाई दी जो येल्तसिन से मुलाकात के वक्त हुआ करती थी।

क्लिण्टन-पुतिन शिखर वार्ता के दौरान अमेरिका की नयी योजना का मुद्दा प्रमुखता से उठा। पुतिन ने अपनी आपत्ति दुहराई कि अमेरिकी योजना दोनों देशों के बीच 1972 में सम्पन्न प्रक्षेपास्त्र विरोधी सन्धि (एंटी बैलेस्टिक मिसाइल ट्रीटी) का उल्लंघन है। दोनों नेताओं के बीच लगभग छह घण्टे की वार्ता के बाद रणनीतिक सन्तुलन कायम रखने सम्बन्धी जिस दस्तावेज पर दस्तखत हुए वह आगामी दिनों में दोनों देशों के बीच रस्साकशी का आधार बनेगा—खासकर अगले साल जनवरी में अमेरिका में नये राष्ट्रपति के पदभार ग्रहण करने के बाद तनातनी के एक नये दौर की शुरुआत होने की प्रबल सम्भावना है।

दरअसल, अपनी नयी सैन्य योजना को

हर कीमत पर लागू करने की अमेरिकी कोशिश उसकी हताशा की उपज है। सोवियत खेमे के विघटन के बाद भी अमेरिका को अपना साम्राज्यवादी वर्चस्व निरापद नजर नहीं आ रहा है। उसके वित्तीय साम्राज्य को जापान और यूरोपीय संघ से लगातार कड़ी चुनौती मिल रही है। चाहे विश्व व्यापार संगठन के भीतर बहुपक्षीय व्यापार सम्बन्धी मसले हों या द्विपक्षीय मामले—हर जगह उसे तगड़ी प्रतिस्पर्द्धा का सामना करना पड़ रहा है। व्यापार सम्बन्धी मसलों पर मतभेद कितने उग्र हैं यह सिएटल में हुई उठापटक से सहज ही समझा जा सकता है। ऐसे में अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए सैन्य हथकण्डों पर हताशापूर्ण निर्भरता की नीति पर चलना उसकी मजबूरी है। सैन्य मामलों में भी अपनी वरीयता बरकरार रखने के प्रति वह आश्वस्त नहीं है, क्योंकि यूरोपीय संघ के देश (खासकर जर्मनी और फ्रांस) 'नाटो' के छाते के भीतर रहते हुए कसमसा रहे हैं और अपनी स्वतंत्र सुरक्षा प्रणाली विकसित करने की दिशा में लगातार सचेष्ट हैं। उधर रूस भी अपनी आर्थिक बदहाली के बावजूद सामरिक मामलों में अपनी श्रेष्ठता के बूते पर अमेरिका की हर मंशा को बेरोकटोक पूरा करने के रास्ते में अड़ंगा डालता रहता है। इसके साथ ही, दक्षिण एशिया क्षेत्र में भी शक्ति संतुलन के निर्णायक रूप से अमेरिकी पक्ष में होने के रास्ते में चीन की मिसाइल एवं नाभिकीय क्षमता रोड़ा बनी हुई है। इन हालात में, विश्व स्तर पर सैन्य रणनीतिक सन्तुलन को निर्णायक रूप से अपने पक्ष में करने और अपने साम्राज्य पर मंडराते हर सम्भावित खतरे से बचाव के लिए वह बेचैन हो उठा है। उसकी नयी प्रक्षेपास्त्र रोधी प्रणाली इसी बेचैनी और हताशा की उपज है।

साम्राज्यवादी डाकुओं की विश्व-प्रभुत्व की इस गलाकाटू होड़ में ऊंट किस करवट बैठेगा, वर्ग-शक्ति-सन्तुलन क्या शक्ल लेगा, खेमेबन्दियों का क्या स्वरूप उभरेगा—इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर तो अभी भविष्य के गर्भ में है; लेकिन इतना निश्चित है कि विश्व स्तर पर, और क्षेत्रीय स्तरों पर भी, शस्त्रों की होड़ का एक नया तीखा दौर शुरू होने वाला है, साम्राज्यवादियों के विश्व प्रभुत्व की इस होड़ से दुनिया की कौन सी शक्ल उभरेगी, यह साम्राज्यवादियों की चाहतों से अधिक इस बात पर निर्भर करता है कि दुनिया की क्रान्तिकारी ताकतें भावी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं का किस हद तक अपने पक्ष में इस्तेमाल करने में समर्थ हो पाती हैं।

● आलोक रंजन

"निरा विश्वास और अन्धविश्वास खतरनाक होता है, इससे मस्तिष्क कुण्ठित होता है और आदमी प्रतिक्रियावादी हो जाता है।"
—भगतसिंह

'दायित्वबोध' को शुभकामनाओं सहित

इं. माधवेन्द्र सिंह

के.जी. 17, कविनगर, गाजियाबाद

दायित्वबोध की वैचारिक मुहिम को हार्दिक शुभकामनाओं सहित

सागर फिल्म्स प्रा. लि.

ए-65, भीकाजी कामा प्लेस, नई दिल्ली

"यदि जनबल पर विश्वास है तो हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। जनता की दुर्दम शक्ति ने, फासिज्म की काली घटाओं में, आशा के विद्युत का संचार किया है। वही अमोघ शक्ति हमारे भविष्य की भी गारण्टी है।"
—राहुल सांकृत्यायन

आशु अरोड़ा
(सहायक प्रशिक्षक, कम्प्यूटर)
कृषि विज्ञान केन्द्र
243, विकास भवन
न्यू कलेक्ट्रेट, राजनगर
गाजियाबाद

दिन आ रहे हैं पर्वत हटाने के
ऐसा कहती हूं, शक होता है दूसरों को
अर्से से पर्वत महज सो रहा है।
अतीत में
आग से गुजरती हुए आगे बढ़ी थीं औरतें
फिर भी तुम्हें शायद विश्वास न हो
सोयी हुई सभी औरतें जागेंगी और अब आगे बढ़ेंगी।
–ओसानो आकिको

सरिता जोशी

(सह प्रशिक्षक, गृहविज्ञान)
कृषि विज्ञान केन्द्र, 243, विकास भवन
न्यू कलक्ट्रेट, राजनगर, गाजियाबाद

'दायित्वबोध' के लिए हार्दिक शुभकामनाएं

आर.के. स्टूडियो

शाप नं. 24, जी. ब्लाक मार्केट
शास्त्रीनगर, गाजियाबाद

अध्याय 20

राज्य, समूह और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों को सही ढंग से हल करो

समाजवादी राष्ट्रीय आय का वितरण और पुनर्वितरण

आम तौर पर, समाजवादी समाज में तैयार उत्पादों के विनिमय और वितरण के बाद ही उनका उपभोग किया जा सकता है। उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की निरन्तर आवृत्ति पुनरुत्पादन की प्रक्रिया है। वितरण और सामाजिक उत्पाद एवं राष्ट्रीय आय के सही वितरण के नजरिए से राज्य, समूह एवं व्यक्ति के बीच सम्बन्धों को सही ढंग से चलाये जाने की सामाजिक पुनरुत्पादन के निर्विघ्न प्रबन्धन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

समाजवादी राष्ट्रीय आय जनता से आती है और जनता पर व्यय की जाती है

समाजवादी राष्ट्रीय आय लगातार और तेजी से बढ़ सकती है

समाजवादी पुनरुत्पादन की अपनी विशिष्टताएं होती हैं। सारत: इसमें समाजवादी उत्पादन की विशिष्टताओं की लगातार आवृत्ति होती रहती है। पुनरुत्पादन का लक्ष्य समाजवादी राज्य और जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। पूंजीवादी पुनरुत्पादन की तरह इसका उद्देश्य शोषण करना नहीं होता। समाजवादी पुनरुत्पादन नियोजित और समानुपातिक ढंग से चलता है। इसमें पूंजीवाद की अन्धी प्रतिस्पर्धा नहीं होती। समाजवादी पुनरुत्पादन लगातार विस्तारित होता हुआ पुनरुत्पादन है। यह पूंजीवाद की तरह चक्रीय आर्थिक संकटों से बाधित नहीं होता है। समाजवादी पुनरुत्पादन की ये विशिष्टताएं अपरिहार्यत: समाजवादी राष्ट्रीय आय के सृजन और वितरण में प्रतिबिम्बित होती हैं।

किसी देश में एक निश्चित अवधि में (सामान्यत: एक वर्ष) भौतिक उत्पादन की शाखाओं में कार्यरत मेहनतकशों द्वारा उत्पादित कुल सामाजिक उत्पाद तथा उत्पादन के साधनों के मूल्यह्रास का अन्तर राष्ट्रीय आय होती है। यह भौतिक उत्पादन की शाखाओं में मेहनतकशों द्वारा सृजित सम्पदा होती है।

समाजवादी उत्पादन के दोहरे चरित्र के कारण समाजवादी उत्पादन द्वारा सृजित राष्ट्रीय आय उत्पादों के साथ-साथ मूल्य में भी अभिव्यक्त होती है। उत्पादों के रूप में राष्ट्रीय आय की गणना साधारण योग से नहीं की जा सकती क्योंकि उत्पादों में बहुत विविधता होती है। लेकिन चूंकि कुल सामाजिक उत्पाद (मूल्यह्रास को घटाकर) में मूल्य होता है, इसलिए इसके कुल योग तथा इसकी वृद्धि दर की गणना मौजूदा या स्थिर दामों के अनुसार की जा सकती है।

राष्ट्रीय आय के सृजन एवं वृद्धि का निर्धारण करने वाले मुख्य कारक इस प्रकार हैं : सामाजिक श्रम में वृद्धि, श्रम की उत्पादकता में वृद्धि, और उत्पादन के साधनों की खपत में की गई बचत।

आम तौर पर, यदि अन्य कारक समान रहें, तो सामाजिक उत्पादन में लगे श्रम की मात्रा जितनी अधिक होगी, सृजित की गई राष्ट्रीय आय उतनी ही अधिक होगी—भौतिक रूप में भी और मूल्य रूप में भी। समाजवाद के तहत, उत्पादन और पुनरुत्पादन का लक्ष्य राज्य तथा जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को पूरा करना होता है। पुनरुत्पादन का पैमाना हर वर्ष बढ़ता जाता है और राष्ट्रीय आय इस वृद्धि को सम्भाल सकती है। पूंजीवाद के तहत उत्पादन और पुनरुत्पादन का लक्ष्य शोषण करना होता है। पुनरुत्पादन का विस्तार (विस्तारित पुनरुत्पादन) प्राय: आर्थिक संकटों द्वारा बाधित होता रहता है। सापेक्षिक अति-उत्पादन की स्थिति विकट हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर बेरोजगारी पैदा होती है जो पूंजीवाद के तहत एक खास सामाजिक समस्या है। इस तरह पूंजीवादी राष्ट्रीय आय में वृद्धि पर निश्चित रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

यदि श्रम की मात्रा स्थिर रहे, तो उत्पादक उद्यम में श्रम की उत्पादकता जितनी तेजी से बढ़ेगी, उतनी ही तेजी से राष्ट्रीय आय का भौतिक परिमाण, यानी स्थिर दामों के अनुसार गणना की गई राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। समाजवादी समाज में मेहनतकश जनता की पहलकदमी और उत्साह को पूरी तरह जगाया जा सकता है। उन्नत तकनोलाजी को व्यापक पैमाने पर, नीचे तक पहुंचाया जा सकता है। तकनीकी अभिनवीकरण और तकनीकी क्रान्ति के लिए जनान्दोलन श्रम-उत्पादकता तथा राष्ट्रीय आय बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। पूंजीवादी समाज में मेहनतकश जनता शोषित-उत्पीड़ित होती है और उसकी पहलकदमी व सक्रियता दबी रहती है। उन्नत तकनोलाजी का इस्तेमाल तभी किया जाता है जब उससे अतिरिक्त मूल्य उगाही में बढ़ोत्तरी होती है। इस तरह, श्रम-उत्पादकता और राष्ट्रीय आय बढ़ाने की राह में भीषण बाधाएं होती हैं।

अब राष्ट्रीय आय को प्रभावित करने वाले तीसरे कारक पर नजर डालें। यदि कुल सामाजिक उत्पाद स्थिर है, तो उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन के साधनों की खपत में जितनी अधिक बचत की जाएगी, कुल सामाजिक उत्पाद में से उतना ही कम घटाया जाएगा और राष्ट्रीय आय की वृद्धि उतनी ही तेज होगी। समाजवादी समाज में, मेहनतकश जनता ही मालिक होती है। कच्चे मालों की बचत, उनके बहुउद्देशीय उपयोग या सस्ते कच्चे माल की तलाश तथा उत्पादन के साधनों की नियमित देखभाल और उनके पूरी तरह उपयोग किये जाने में मेहनतकशों का सक्रिय सरोकार

जगाया जा सकता है। समाजवादी पुनरुत्पादन की नियोजित प्रकृति के कारण पूरे समाज के स्तर पर उत्पादन के साधनों का पूरी तरह और ज्यादा तर्कसंगत ढंग से इस्तेमाल किया जा सकता है। ये स्थितियां उत्पादन के साधनों की खपत में कमी लाना और राष्ट्रीय आय को बढ़ाना सम्भव बनाती हैं। पूंजीवादी समाज में, हालांकि पूंजीपति पूंजी का व्यय बचाने के लिए उत्पादन के साधनों में बचत की कोशिश करता है, पर प्रतिस्पर्धा और उत्पादन में अराजकता के कारण बहुत अधिक बर्बादी होती है। इसके अलावा, उद्यमों की क्षमता का पूरा उपयोग न होने के कारण प्राय: बड़ी संख्या में उपकरण बेकार पड़े रहते हैं। ये स्थितियां राष्ट्रीय आय बढ़ाने के प्रतिकूल होती हैं।

चूंकि राष्ट्रीय आय के सृजन और वृद्धि को निर्धारित करने वाले कारक अलग-अलग सामाजिक दशाओं में अलग-अलग होते हैं, इसलिए दीर्घकालिक तौर पर, किसी समाजवादी देश की राष्ट्रीय आय पूंजीवादी देश की तुलना में कहीं तेजी से बढ़ सकती है।

राष्ट्रीय आय का वितरण मेहनतकश जनता के बुनियादी हितों के अनुसार होता है

राष्ट्रीय आय सृजित होने के बाद इसका वितरण कैसे होता है? राष्ट्रीय आय के वितरण का निर्धारण अन्तत: उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के स्वरूप से होता है। समाजवादी समाज में उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व होता है। मेहनतकश जनता उत्पादन के क्षेत्र में खुद ही मालिक होती है। इसलिए राष्ट्रीय आय का वितरण मेहनतकश जनता के हितों के अनुसार होना चाहिए और इसे राज्य तथा जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती आवश्यकताओं को नियोजित ढंग से पूरा करना चाहिए।

राष्ट्रीय आय का सृजन भौतिक उत्पादन की शाखाओं में कार्यरत मेहनतकश करते हैं। इसलिए सबसे पहले भौतिक उत्पादन की शाखाओं के भीतर ही इसका एक आरम्भिक वितरण होना चाहिए। समाजवादी राजकीय स्वामित्व के तहत उद्यमों में इस आरम्भिक वितरण के बाद राष्ट्रीय आय दो भागों में बांटी जाती है : एक भाग होता है राजकीय उद्यमों के मजदूरों-कर्मचारियों का वेतन; और दूसरा भाग है शुद्ध आय जो करों एवं लाभ के रूप में राज्य को लौटाये जाने के बाद राज्य की केन्द्रीकृत शुद्ध आय बन जाती है।

सामूहिक स्वामित्व के तहत उद्यमों में, आरम्भिक वितरण के बाद राष्ट्रीय आय का एक भाग कम्यून के सदस्यों के बीच उनके द्वारा किये गये श्रम के अनुपात में वितरित कर दिया जाता है, जबकि दूसरा भाग समूह की शुद्ध आय बन जाता है। राजकीय उद्यमों के विपरीत सामूहिक स्वामित्व के तहत उद्यमों की शुद्ध आय पूरी तरह राज्य को नहीं दे दी जाती। इसका केवल एक भाग करों के रूप में राज्य को स्थानान्तरित होकर राज्य की केन्द्रीकृत शुद्ध आय का हिस्सा बन जाता है। शेष हिस्सा सार्वजनिक संचय कोष और सार्वजनिक कल्याण कोष के रूप में रखा जाता है जिसका इस्तेमाल सामूहिक उद्यमों के विस्तारित पुनरुत्पादन और सामूहिक कल्याण के लिए किया जाता है।

भौतिक उत्पादन की शाखाओं में आरम्भिक वितरण के बाद समाजवादी राष्ट्रीय आय राजकीय आय, सामूहिक उद्यमों की आय और अलग-अलग मेहनतकशों की आय बन जाती है। वितरण के सम्बन्ध में राज्य, समूह और व्यक्ति के बीच सम्बन्धों को सही ढंग से हल करना एक महत्वपूर्ण उसूली मामला है। अध्यक्ष माओ कहते हैं : ''आय के वितरण के मामले में हमें राज्य, समूह और व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखना चाहिए। हमें राज्य के कृषि कर, कोआपरेटिव के संचय कोष और किसानों की निजी आय के बीच के तीन-तरफा सम्बन्ध को सही ढंग से हल करना चाहिए, और जरूरी फेरबदल करने पर लगातार ध्यान देना चाहिए ताकि उनके बीच अन्तरविरोधों का समाधान किया जा सके।''[1] माओ का यह निर्देश सामूहिक अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में था। लेकिन यह सिद्धान्त पूरी राष्ट्रीय आय के वितरण पर भी लागू होता है।

आरम्भिक वितरण के बाद राष्ट्रीय आय के एक भाग का पुनर्वितरण करना होता है जिससे आय का दूसरा दौर बनता है।[2] राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण क्यों आवश्यक है? ऐसा इसलिए है क्योंकि समाजवादी समाज में, भौतिक उत्पादन की शाखाओं के अलावा संस्कृति, शिक्षा एवं स्वास्थ्य की शाखाएं होती हैं, कुछ सेवा उद्योग होते हैं, सेना तथा राज्य प्रशासन के अंग होते हैं। गैर-भौतिक उत्पादन की ये शाखाएं राष्ट्रीय आय सृजित नहीं करती हैं लेकिन समाजवादी समाज के विकास, मेहनतकश जनता के भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की समृद्धि तथा सर्वहारा अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण के लिए ये आवश्यक हैं। गैर-भौतिक उत्पादन की इन शाखाओं में काम करने वालों की निजी आय राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण के जरिए होती है। इसके अलावा सामाजिक कल्याण और सामाजिक सहायता की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण की आवश्यकता होती है और इस तरह, यह ऐसे कल्याण एवं सहायता से लाभान्वित होने वालों की निजी आय बन जाती है।

राष्ट्रीय आय का वितरण मुख्यत: समाजवादी राज्य के बजट के जरिए होता है। लेकिन सेवा उद्योगों की गतिविधियों के जरिए भी राष्ट्रीय आय का कुछ पुनर्वितरण होता है। उदाहरण के लिए, नाई की दुकानें और लांड्रियां अपनी सेवाओं के लिए जो भुगतान लेती हैं उसके एक भाग से इनके कर्मचारियों को वेतन दिया जाता है। इस तरह, आरम्भिक वितरण से हुई निजी आय में बदल जाती है और इस तरह राष्ट्रीय आय का कुछ पुनर्वितरण होता है।

राष्ट्रीय आय का पुनर्वितरण एक हद तक, दामों के समायोजन से भी होता है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक उत्पादों और कृषि के पूंजीगत मालों का दाम घटाने और कृषि उत्पादों का खरीद मूल्य बढ़ाने से किसान की आय बढ़ जाती है।

समाजवादी समाज में राष्ट्रीय आय वितरण और पुनर्वितरण के बाद दो भागों में बंट जाती है। पहला भाग समाजवादी राज्य तथा सामूहिक स्वामित्व के तहत उद्यमों के नियंत्रण में रहता है जिसका विस्तारित पुनरुत्पादन और अन्य सामाजिक आवश्यकताओं के लिए किया जाता है। दूसरा भाग अलग-अलग व्यक्तियों के पास रहता है जिससे वे अपनी आजीविका की जरूरतें पूरी करते हैं। राष्ट्रीय आय के इन दो भागों को उनके भिन्न-भिन्न उपयोग के अनुसार संचय कोष और उपभोग कोष के रूप में दो श्रेणियों में रखा जा सकता है।

सामाजिक उत्पाद तथा राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण के बाद अन्तिम परिणाम को तालिका में दर्शाए गये ढंग से श्रेणीबद्ध किया जा सकता है।

वितरण और पुनर्वितरण के बाद समस्त समाजवादी राष्ट्रीय आय प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से मेहनतकश जनता की सेवा में इस्तेमाल होती है। समाज के पास जाने वाला भाग मेहनतकशों के सामूहिक कल्याण और उनके दीर्घकालिक हितों के काम आता है। जैसा कि मार्क्स ने कहा था: ''श्रम की अह्रासित (undiminished) आय' छिपे ढंग से 'ह्रासित' (diminished) आय में बदली जा चुकी है, हालांकि व्यक्ति के रूप में उत्पादक को मिलने से जो कुछ रोक लिया गया है, उसका लाभ उसे समाज के सदस्य के रूप में प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से मिलता है।''[3]

समाजवादी राष्ट्रीय आय जनता से आती है और जनता पर व्यय की

जाती है। यह पुराने समाज में राष्ट्रीय आय के वितरण से मूलभूत रूप से भिन्न है। शोषक वर्गों के प्रभुत्व वाले समाज में, मेहनतकश जनता द्वारा सृजित राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा शोषक वर्ग द्वारा हड़प लिया जाता है जिसपर मुट्ठी भर परजीवी मौज करते हैं। लिन पियाओ जैसे लोग इसी ढांचे की पुनर्स्थापना करना चाहते थे जिसमें मनुष्य मनुष्य का शोषण करता है। वे कनफ्यूशियस के चेले मेन्शियस के पदचिन्हों पर चल रहे थे जिसने कहा था : ''भद्रलोक के बिना जाहिलों पर शासन करने वाला कोई नहीं होगा, जाहिलों के बिना भद्रलोक को खिलाने और जिलाने वाला कोई नहीं होगा।'' उनकी नजर में, मेहनतकश जनता का शोषण-उत्पीड़न अपरिवर्तनीय नियम थे। लेकिन हम साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग में जी रहे हैं। शोषण की व्यवस्था का अन्त निश्चित है और समाजवादी समाज में पहले ही इसका खात्मा हो चुका है। मेहनतकश जनता अब शोषक वर्ग के ''भद्रलोक'' का बोझ नहीं उठायेगी। लिन पियाओ जैसे लोग, जिन्होंने इतिहास के पहिए को उल्टा घुमाने का असफल प्रयास किया, उस पहिए के नीचे कुचले जाने से बच नहीं सके।

राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण में सार्वजनिक वित्त की महत्वपूर्ण भूमिका

राजकीय बजट वित्तीय व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण कड़ी है

समाजवादी समाज में, राष्ट्रीय आय का वितरण और पुनर्वितरण मुख्यत: वित्त के जरिए होता है। समाजवादी वित्तीय व्यवस्था में राजकीय बजट, राजकीय बैंक के ऋण तथा राजकीय उद्यम वित्त शामिल होते हैं। इनमें से राजकीय उद्यम वित्त समाजवादी वित्तीय व्यवस्था का आधार है। यह उद्यमों की उत्पादन गतिविधियों में पूंजी के इस्तेमाल और वार्षिक कारोबार को व्यवस्थित ढंग से प्रतिबिम्बित करता है। यह राष्ट्रीय आय का एक आरम्भिक वितरण भी करता है जिससे राज्य की केन्द्रीकृत शुद्ध आय बनती है। राजकीय बैंक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में अस्थायी रूप से निष्क्रिय कोषों को ऋण के रूप में वितरित करते हैं जिससे उत्पादन में अल्पकालिक कार्यशील पूंजी की जरूरतें पूरी हो सकें। राजकीय बजट राष्ट्रीय आय के वितरण में भागीदारी से राजस्व अर्जित करता है जिससे सर्वहारा अधिनायकत्व के सुदृढ़ीकरण और आर्थिक एवं सांस्कृतिक निर्माण की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। वितरित होने वाली आय का खासा बड़ा हिस्सा, खासकर वह जो समाजवादी संचय को प्रमुख भाग बनता है, राज्य के बजटीय आवण्टनों से आता है। राज्य का बजट समाजवादी वित्त व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण कड़ी है।

राजकीय बजट राष्ट्रीय आय के वितरण में कैसे भागीदारी करता है? चूंकि बजट में राजस्व और व्यय दोनों होते हैं, इसलिए इस प्रश्न का उत्तर इन दोनों पहलुओं से देना होगा। समाजवादी राज्य के बजट राजस्व में आम तौर पर उद्यमों एवं सेवाओं, विभिन्न करों तथा अन्य मदों से आय शामिल होती है। बजटीय आय के ये मद ज्यादातर समाजवादी उद्यमों की शुद्ध आय से आते हैं। वर्तमान समय में चीन में, समाजवादी राजकीय उद्यमों की शुद्ध आय करों एवं लाभ के रूप में पूरी की पूरी राज्य को सौंप दी जाती है। चीन के वर्तमान बजट राजस्व का 99 प्रतिशत

- **समाजवादी समाज में सकल सामाजिक उत्पाद**
  - **राष्ट्रीय आय**
    - संचय कोष
      - **विस्तारित पुनरुत्पादन कोष :** उद्योग, कृषि एवं परिवहन में उत्पादन-सम्बन्धी पूंजी निर्माण तथा उद्यमों की संख्या बढ़ाने के लिए कार्यशील पूंजी
      - **गैर-उत्पादक गतिविधियों से सम्बन्धित पूंजी-निर्माण के लिए कोष :** सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य, राज्य प्रशासन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की शाखाओं में पूंजी निर्माण के लिए तथा औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन शाखाओं में गैर-उत्पादक गतिविधियों से सम्बन्धित पूंजी निर्माण के लिए
      - **सुरक्षित सामाजिक कोष :** युद्ध एवं प्राकृतिक आपदाओं की तैयारी तथा पुनरुत्पादन प्रक्रिया में दुर्घटनावश आने वाली बाधाओं से बचने के लिए समाजवादी राज्य एवं उद्यमों का सामग्रियों का सुरक्षित भण्डार। इसमें कच्चे माल, ईंधन तथा खाद्य का राजकीय भण्डार तथा जन कम्यूनों का सुरक्षित खाद्य भण्डार शामिल होता है।
    - उपभोग कोष
      - **राज्य प्रशासन कोष :** राज्य, प्रशासन तथा राष्ट्रीय सुरक्षा व्यय के लिए।
      - **सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं स्वास्थ्य कोष :** विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं कलाओं पर व्यय के लिए।
      - **सामाजिक सुरक्षा कोष :** श्रम बीमा, मुफ्त चिकित्सा सेवाओं और समाजवादी राज्य तथा उद्यमों की सामाजिक सहायता पर व्यय के लिए। उपरोक्त व्यय में सम्बन्धित शाखाओं के मजदूरों-कर्मचारियों का वेतन शामिल है।
      - **उत्पादन एवं परिचलन शाखाओं में निजी उपभोग कोष :** उत्पादन एवं परिचलन के काम में लगे मजदूरों-कर्मचारियों के वेतन भुगतान तथा कम्यून सदस्यों द्वारा किये गये श्रम के पारिश्रमिक के लिए।
  - **मूल्यह्रास कोष**

से ज्यादा राजकीय अर्थव्यवस्था और सामूहिक अर्थव्यवस्था से मिलने वाले भुगतान हैं। चीन के बजट में सार्वजनिक ऋण और विदेशी ऋण के मद समाप्त हो चुके हैं। चीन किसी प्रकार के आन्तरिक या बाह्य ऋण से मुक्त समाजवादी देश बन गया है।

समाजवादी राज्य के बजटीय व्यय में आम तौर पर आर्थिक निर्माण के लिए व्यय, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक योजनाओं के लिए व्यय तथा राष्ट्रीय सुरक्षा एवं विदेशी सहायता के लिए व्यय शामिल होता है। इन बजटीय खर्चों के जरिए सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने, उत्पादन के विस्तार और सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सेवाओं के विकास के लिए नियोजित ढंग से कई कोष स्थापित किये जाते हैं। बजटीय खर्चों में, आर्थिक निर्माण तथा सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक व्यय बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। इन दो मदों पर व्यय 1950 में चीन के बजटीय व्यय के 36 प्रतिशत से बढ़कर 1973 में 70 प्रतिशत हो गया। इसके विपरीत साम्राज्यवादी और सामाजिक-साम्राज्यवादी देशों में, हथियारों के विस्तार और सरकारी प्रशासन पर खर्च, राज्य के बजटीय व्यय का भारी हिस्सा होता है। साम्राज्यवाद को दूसरे देशों की मेहनतकश जनता को लूटने-खसोटने तथा खुद साम्राज्यवादी देशों की जनता के शोषण-उत्पीड़न के लिए ऐसे खर्चों की जरूरत पड़ती है। खर्च अक्सर राजस्व प्राप्तियों से ज्यादा होता है जिसके परिणामस्वरूप भारी बजट घाटा होता है।

उपरोक्त स्थितियां दर्शाती हैं कि समाजवादी वित्त राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण में समाजवादी राज्य की भागीदारी पर आधारित एक वितरणकारी सम्बन्ध है। समाजवादी वित्त सर्वहारा अधिनायकत्व को सुदृढ़ करने, अर्थव्यवस्था तथा सांस्कृतिक, शैक्षिक एवं स्वास्थ्य सेवाओं को विकसित करने और अन्तरराष्ट्रीय कर्तव्यों को पूरा करने का एक उपकरण है। समाजवादी वित्त और पूंजीवादी वित्त के बीच अन्तर इस तथ्य में निहित है कि समाजवादी वित्त अन्ततः व्यापक मेहनतकश आबादी के हितों के अतिक्रमण की बजाय उनकी सेवा करता है और उत्पादन के दायरे के भीतर और बाहर दोनों में राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण में भागीदारी करता है। समाजवादी वित्त राजकीय बजट, राजकीय बैंक के ऋण और राजकीय उद्यम वित्त को नजदीकी से जोड़कर उन्हें उत्पादन की वृद्धि में लगाता है।

अर्थव्यवस्था वित्त का निर्धारण करती है और वित्त अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है

चूंकि समाजवादी वित्त राष्ट्रीय आय के वितरण एवं पुनर्वितरण का राज्य पर आधारित सम्बन्ध है, इसलिए यह राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। मार्क्सवाद बताता है कि उत्पादन वितरण को निर्धारित करता है और वितरण वापस उत्पादन पर प्रतिक्रिया करता है। विभिन्न समाजों में वितरण के भिन्न-भिन्न रूप सामाजिक उत्पादन के भिन्न-भिन्न रूपों से निर्धारित होते हैं। और समाज द्वारा वितरण के लिए उपलब्ध करायी गयी सम्पदा भी उत्पादन के दायरे में सृजित राष्ट्रीय आय से निर्धारित होती है। अध्यक्ष माओ ने अर्थव्यवस्था और वित्त के बीच के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के बारे में कहा है : ''हमारे आर्थिक एवं वित्तीय कार्य को निर्देशित करने वाली आम नीति है अर्थव्यवस्था का विकास और आपूर्ति सुनिश्चित करना... अच्छी या बुरी वित्तीय नीति अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है, लेकिन अर्थव्यवस्था ही वित्त को निर्धारित करती है।''[4] मुक्ति के बाद से, वित्तीय कर्मियों की भारी संख्या अध्यक्ष माओ के निर्देशों का पालन कर रही है। पहले उन्होंने औद्योगिक एवं कृषि उत्पादन में लगातार वृद्धि को बढ़ावा देने के लिए अर्थव्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया। इसके परिणामस्वरूप, चीन के वित्त के लिए एक स्थिर और भरोसेमन्द भौतिक आधार तैयार हो गया है और राजस्व एवं व्यय का पैमाना तेजी से विकसित हुआ है। 1950 से 1973 के बीच, मूल्य के रूप में मापने पर, चीन का कृषि उत्पादन 1.8 गुना, हल्का औद्योगिक उत्पादन 12.8 गुना और भारी औद्योगिक उत्पादन 59 गुना बढ़ गया है। इसी दौरान, चीन के वित्तीय राजस्व में लगभग तेरह गुना की, और वित्तीय खर्चों में ग्यारह गुना की वृद्धि हुई है।

अर्थव्यवस्था वित्त का निर्धारण करती है। इसलिए, वित्त पर एकतरफा जोर, अर्थव्यवस्था को विकसित करने के महत्व को कम करना और शुद्ध वित्तीय दृष्टिकोण अपनाना, जो वित्तीय समस्याओं को सिर्फ वित्तीय साधनों से हल करना चाहता है—ये सब एकदम गलत हैं। शुद्ध रूप से वित्तीय दृष्टिकोण वाले लोग अर्थव्यवस्था, वित्त, उत्पादन और वितरण को जोड़ने वाले द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को समझते नहीं हैं और उत्पादन में वृद्धि को बढ़ावा देने में सक्रियता से नहीं जुड़ते हैं। ऐसे लोग वित्तीय राजस्व और व्यय की समस्या को हल नहीं कर सकते।

अर्थव्यवस्था वित्त का निर्धारण करती है लेकिन वित्त महज एक निष्क्रिय या नकारात्मक कारक नहीं है। वित्त भी आर्थिक विकास में एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब राज्य आर्थिक निर्माण करना चाहता है और उद्यम उत्पादन बढ़ाना चाहता है, तो इसके लिए आवश्यक धन जुटाना होता है। राष्ट्रीय आय में भागीदारी के जरिए समाजवादी वित्त राज्य की केन्द्रीकृत शुद्ध आय में से राजकीय उद्यमों को बजटीय कोष का आवण्टन करता है जो इनका इस्तेमाल आर्थिक निर्माण के लिए करते हैं। कोषों का आवण्टन करते समय भौतिक संसाधनों के वितरण में सन्तुलन रखा जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यदि मूल्य के चलन का भौतिक संसाधनों (उपयोग मूल्यों) के चलन के साथ मेल किया जाए, ताकि एक निश्चित मात्रा में धन का संगत मात्रा में संसाधनों से विनिमय किया जा सके, और यदि इन संसाधनों का इस्तेमाल मितव्ययिता तथा सूझ-बूझ के साथ किया जाए, तो नियोजित और समानुपातिक ढंग से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का तेज विकास सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके विपरीत, यदि समाजवादी वित्त गलत ढंग से कोष मुहैया कराता है, इस तरह कि मूल्य का चलन भौतिक संसाधनों के चलन से अलग हो जाता है, या यदि भौतिक संसाधनों को तर्कसंगत ढंग से इस्तेमाल नहीं किया जाता, तो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास बाधित हो जाएगा।

समाजवादी वित्त उत्पादन के दायरे में सृजित राष्ट्रीय आय को राज्य के हाथों में केन्द्रित कर देता है। राज्य की इस केन्द्रीकृत शुद्ध आय का इस्तेमाल राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के लिए किया जाता है। लेकिन यह अपने आप में काफी नहीं होता है। विभिन्न उद्यमों के साथ सम्पर्क और उनकी स्थितियों की जानकारी रखने वाले वित्तीय कर्मियों की बड़ी संख्या को एक महत्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। उन्हें प्रबन्धन एवं कार्रवाई में सुधार करने, सहकारपूर्ण सम्बन्ध कायम करने, उद्यमों के भीतर और उद्यमों के बीच आपसी सम्बन्ध बेहतर बनाने तथा सम्भावनाओं का भरपूर उपयोग करने में उद्यमों की सहायता करनी चाहिए। इस तरह से, और अर्थव्यवस्था के विकास के आधार पर समाजवादी वित्त के स्रोतों को बढ़ाया जा सकता है।

संचय और उपभोग के बीच आनुपातिक सम्बन्ध समग्र सानुपातिक सम्बन्ध होते हैं

समाजवादी संचय विस्तारित पुनरुत्पादन का स्रोत है

राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण में संचय और उपभोग के

बीच आनुपातिक सम्बन्ध होते हैं जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास तथा जनता की आजीविका* को सीधे प्रभावित करते हैं। उद्योग एवं कृषि के बीच के आनुपातिक सम्बन्ध और कृषि, हल्के उद्योग एवं भारी उद्योग के बीच के आनुपातिक सम्बन्ध भी समग्र आनुपातिक सम्बन्ध होते हैं।

राष्ट्रीय आय के वितरण और पुनर्वितरण की प्रक्रिया में समाजवादी वित्त को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि संचय के एक निश्चित हिस्से का इस्तेमाल विस्तारित पुनरुत्पादन के लिए किया जाए। संचय विस्तारित पुनरुत्पादन का स्रोत है। लेकिन अलग-अलग समाजों में संचय की अलग-अलग विशिष्टताएं होती हैं। पूंजीवादी समाज में उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथों में होते हैं, और संचय का एकमात्र रूप पूंजीवादी संचय है। यह संचय शोषक वर्ग द्वारा मेहनतकश जनता के शोषण-उत्पीड़न को बढ़ाने में काम आता है। समाजवादी समाज में मेहनतकश जनता के पास राजनीतिक सत्ता होती है और उत्पादन के साधनों पर उसका स्वामित्व होता है। परिणामस्वरूप, वह राज्य तथा सामूहिक अर्थव्यवस्था के जरिए कोष संचय कर सकती है और इन कोषों का इस्तेमाल पुनरुत्पादन को विस्तारित करने तथा मेहनतकश जनता के हितों की सेवा के लिए कर सकती है। समाजवादी समाज जितना अधिक संचय करेगा, सामाजिक उत्पादन का पैमाना और क्षमता उतनी ही अधिक होगी और भौतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का स्तर उतना ही ऊंचा होगा। इसका परिणाम समग्र नैतिक, बौद्धिक तथा भौतिक विकास होगा। कम्युनिस्ट समाज में संक्रमण की भौतिक और विचारधारात्मक स्थितियां भी क्रमश: निर्मित होंगी।

लेकिन हर रंग-ढंग के अवसरवादी और संशोधनवादी समाजवादी और पूंजीवादी संचय के बीच के मूलभूत अन्तर को अनदेखा करते हैं। ये सभी इस बात की वकालत करते रहे हैं कि समाजवादी राष्ट्रीय आय को पूरा का पूरा वितरित कर दिया जाना चाहिए। सौ साल से भी ज्यादा पहले, जर्मन मजदूर आन्दोलन के एक नेता लासाल ने तथाकथित ''श्रम की अह्रासित आय'' का प्रस्ताव किया था। ड्यूहरिंग ने भी ऐसे ही बेतुकी ''सम्पूर्ण श्रम आय'' प्रस्तावित की थी। लासाल, ड्यूहरिंग और उसी किस्म के दूसरे धोखेबाजों की तरह ल्यू शाओ-ची ने भी यह चिल्लपों मचायी कि समाजवाद का मतलब ''ज्यादा वितरण'' और ''अधिक वेतन'' होता है। लिन पियाओ ने यह कुप्रचार किया कि चीन ''एक धनी राज्य है जिसके लोग गरीब हैं।'' उसने समाजवादी संचय को ''छिपा हुआ शोषण'' कहकर उस पर हमला किया और समाजवादी संचय को खत्म करने की साजिश की। मार्क्स और एंगेल्स ने *गोथा कार्यक्रम की आलोचना* तथा *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* में ऐसे बेहूदे प्रचार का करारा जवाब दिया। यदि संशोधनवादियों की भ्रान्त धारणाओं को लागू किया जाता तो समाजवादी संचय होता ही नहीं। परिणामस्वरूप, समाजवादी अर्थव्यवस्था विस्तारित पुनरुत्पादन जारी नहीं रख पाती। यह केवल साधारण पुनरुत्पादन कायम रख पाती, या फिर संचय का काम निजी क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाता। इसका नतीजा अन्तत: पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के रूप में सामने आता। इस तरह हम देख सकते हैं कि ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ द्वारा फैलायी गयी ये भ्रान्त धारणाएं कि सबकुछ वितरित और खर्च कर देना चाहिए, समाजवादी अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुंचाने तथा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने की बौखलाहट भरी कोशिशें भर थीं।

संचय और उपभोग के बीच एक उचित अनुपात होना चाहिए

संचय कोषों के अलावा समाजवादी राष्ट्रीय आय में से जो बच जाता है, उसका इस्तेमाल उपभोग कोषों के रूप में किया जाता है। ''समाजवादी अर्थव्यवस्था के दोनों सेक्टरों के भीतर... और इन दोनों सेक्टरों** के बीच भी संचय तथा उपभोग का उचित अनुपात तय करना एक जटिल समस्या है जिसका एकदम तर्कसंगत समाधान तत्काल ढूंढ़ना आसान नहीं है।''[5] किसी भी निश्चित समय पर, राष्ट्रीय आय सीमित होती है। यदि संचय का अनुपात बढ़ाया जाए तो उपभोग के अनुपात को थोड़ा घटाना पड़ता है। संचय का स्तर ऊपर उठाने से निश्चित रूप से समाजवादी पुनरुत्पादन की गति तेज होगी लेकिन इसका यह भी मतलब होगा कि मेहनतकश जनता के जीवनस्तर में सुधार को अस्थायी तौर पर धीमा करना होगा। इसके विपरीत, यदि उपभोग का अनुपात बढ़ाया जाए तो संचय के अनुपात को कुछ कम करना होगा। उपभोग का उच्चतर स्तर, निश्चित रूप से मेहनतकश जनता के मौजूदा जीवनस्तर को बेहतर बनायेगा लेकिन तब समाजवादी विस्तारित पुनरुत्पादन की गति धीमी हो जाएगी—जिससे मेहनतकश जनता के जीवनस्तर में भविष्य में सुधार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। ये स्थितियां दर्शाती हैं कि समाजवादी संचय और उपभोग के बीच अन्तरविरोध हैं। लेकिन इन अन्तरविरोधों की प्रकृति शत्रुतापूर्ण नहीं है। ये राज्य के हितों, सामूहिक हितों और व्यक्ति के हितों के बीच के अन्तरविरोध हैं। दूसरे शब्दों में, वे समग्र हितों और आंशिक हितों के बीच और जनता के दीर्घकालिक और अल्पकालिक हितों के बीच के अन्तरविरोध हैं।

संचय और उपभोग के बीच के आनुपातिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करते समय पहले हमें संचय में किसी वृद्धि को मेहनतकश जनता के जीवनस्तर में उपयुक्त सुधार पर आधारित करना चाहिए। साथ ही, उपभोग में कोई वृद्धि भी उत्पादन को लगातार विस्तारित करने और श्रम उत्पादकता को बढ़ाने पर आधारित होनी चाहिए। राज्य, समूह तथा व्यक्ति के हितों पर एक साथ ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि मेहनतकश जनता का जीवनस्तर सुधारने पर कोई ध्यान नहीं दिया जाए और संचय पर एकतरफा जोर दिया जाए तो समाजवादी आर्थिक विकास की वस्तुगत आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकेगा। यह मेहनतकश जनता के श्रम के लिए उत्साह को ठण्डा करेगा। इसके विपरीत, यदि संचय पर ध्यान नहीं दिया जाए और उपभोग पर एकतरफा जोर दिया जाए, तो यह मेहनतकश जनता के बुनियादी और दीर्घकालिक हित में नहीं होगा। इस अन्तरविरोध को सही ढंग से हल करने के लिए अनुकूल परिस्थितियां तैयार करने के लिए सामाजिक उत्पादन को विकसित करने की पुरजोर कोशिशें करनी होंगी। यदि उत्पादन विकसित होता है और राष्ट्रीय आय बढ़ती रहती है तो मेहनतकश जनता का जीवनस्तर तब भी ऊपर उठाया जा सकता है जब संचय में भी वृद्धि की जाए। इसलिए समाजवाद के समग्र और दीर्घकालिक हितों में यह आवश्यक है कि कठिन संघर्ष तथा अध्यवसाय एवं मितव्ययिता के जरिए देश निर्माण की क्रान्तिकारी भावना को जगाया जाए।

संचय और उपभोग के बीच मूल्य के रूप में आनुपातिक सम्बन्ध हैं। इस आनुपातिक सम्बन्ध को ठीक ढंग से चलाने के लिए जरूरी है कि गारण्टी के तौर पर पर्याप्त भौतिक संसाधन मौजूद हों। संचय का उपयोग पूंजी निर्माण और विस्तारित पुनरुत्पादन के लिए किया जाता है। यदि निश्चित मात्रा में धन उपलब्ध है तो संगत मात्रा में उत्पादन के साधन भी मौजूद होने चाहिए।[6] समाजवादी उत्पादन में कुल सामाजिक उत्पाद में से सिर्फ बढ़े हुए (नव सृजित) हिस्से का ही उपयोग विस्तारित

*** इस सन्दर्भ में आजीविका का आशय कार्य/आय और समग्र उपभोग एवं जीवनस्तरों के बीच के सम्बन्ध से है।**

**** ये दो सेक्टर हैं : उत्पादन के साधनों पर समस्त जनता के स्वामित्व वाला सेक्टर तथा उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व वाला सेक्टर**

पुनरुत्पादन के लिए किया जाता है जबकि दूसरा हिस्सा, जो गत वर्ष की खपत (उत्पादन के साधनों का मूल्यह्रास) के बराबर है, साधारण पुनरुत्पादन के काम आता है। इसलिए आपूर्ति और मांग के बीच सन्तुलन बनाये रखने के लिए, संचित कोष को पहले उत्पादन के साधनों में वृद्धि को पूरा करना होता है। अगर ऐसा नहीं किया जाए, तो या तो संचित कोष द्वारा खरीदने के लिए पर्याप्त उत्पादन के साधन नहीं होंगे जिससे विस्तारित पुनरुत्पादन पूरा होना सम्भव नहीं होगा, या फिर बढ़े हुए उत्पादन के साधन बिकेंगे नहीं जिससे अनियोजित रूप से अतिरिक्त स्टाक जमा हो जाएगा। दोनों ही स्थितियों में समाजवादी विस्तारित पुनरुत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

जहां तक उपभोग का प्रश्न है, चूंकि उपभोग कोषों का इस्तेमाल समाजवादी राज्य और व्यापक जनसमुदाय की भौतिक व सांस्कृतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए किया जाता है इसलिए पर्याप्त मात्रा में उपभोक्ता सामग्रियां उपलब्ध होनी चाहिए ताकि इन जरूरतों का पूरा होना सुनिश्चित हो सके। यदि उपभोग कोष में वृद्धि और उपभोक्ता सामग्रियों में वृद्धि में तालमेल नहीं होता, तो या तो उपभोक्ता सामग्रियों की आपूर्ति मांग से ज्यादा हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप अनियोजित ढंग से स्टाक जमा हो जाएगा, या फिर उपभोक्ता सामग्रियों की मांग उनकी आपूर्ति से ज्यादा हो जाएगी जिससे बाजार में चीजों का अभाव हो जाएगा। दोनों ही स्थितियों में राज्य तथा मेहनतकश जनता की जरूरतों को पूरा करने का लक्ष्य ठीक से हासिल करना मुश्किल होगा।

इस तरह यह देखा जा सकता है कि संचय और उपभोग के बीच उचित आनुपातिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए उत्पादन को पूरी ताकत से विकसित करना जरूरी है। उत्पादन के साधनों और उपभोक्ता सामग्रियों के उत्पादन को बढ़ाकर ही संचय और उपभोग दोनों को बढ़ाया जा सकता है और इनके बीच के अन्तरविरोध को हल किया जा सकता है। यहां, श्रम उत्पादकता लगातार बढ़ाने, उत्पादन के साधनों की खपत में मितव्ययिता बरतने, और जनशक्ति, भौतिक संसाधनों तथा वित्त की बचत करते हुए अधिक भौतिक सम्पदा का सृजन करने का निर्णायक महत्व होता है।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना**

एंगेल्स, **ड्यूहरिंग मत-खण्डन**, भाग 3, अध्याय 4

माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'' भाग 1 व 3

माओ, ''जापान-विरोधी युद्ध में आर्थिक और वित्तीय समस्याएं''

समीक्षात्मक प्रश्न

1. समाजवादी राष्ट्रीय आय का वितरण और पुनर्वितरण कैसे होता है? इसमें तथा पूंजीवादी राष्ट्रीय आय के वितरण में बुनियादी फर्क क्या होता है?
2. समाजवादी वित्त क्या है? समाजवादी वित्त और अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध को कैसे समझा जा सकता है?
3. संचय और उपभोग के आनुपातिक सम्बन्ध को कैसे चलाया जाता है?

टिप्पणियां

1. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में,'' **सेलेक्टेड रीडिंग्स,** अंग्रेजी संस्करण, पृ. 453
2. राष्ट्रीय आय के वितरण के पहले दौर में अपनी भागीदारी के जरिए राज्य जो केन्द्रीकृत अतिरिक्त (शुद्ध) आय अर्जित करता है, उसे विभिन्न उद्देश्यों से वापस अर्थव्यवस्था में डाल दिया जाता है। लेकिन राष्ट्रीय आय-व्यय का हर मद वितरण के दूसरे दौर के लिए नयी आय नहीं सृजित करता है। जैसे, राज्य द्वारा राजकीय उद्यमों को आवण्टित किये गये धन का मामला—जहां न तो नयी आय पैदा होती है और न ही स्वामित्व में बदलाव आता है। यह धन राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण की प्रक्रिया से बाहर रहता है।
3. मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1972, पृष्ठ 14.
4. ''जापान-विरोधी युद्ध में आर्थिक और वित्तीय समस्याएं'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 3, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 111
5. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', **सेलेक्टेड रीडिंग्स,** अंग्रेजी संस्करण, पृ. 445
6. संचय कोष के एक छोटे भाग का इस्तेमाल उपभोक्ता सामग्रियां खरीदने के लिए होता है, पर बड़े भाग से उत्पादन के साधन खरीदे जाते हैं।

अध्याय 21

समाजवादी समाज में व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण किस प्रकार होता है

''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' का समाजवादी सिद्धान्त

व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण उत्पादन सम्बन्धों का एक महत्वपूर्ण पहलू है। राष्ट्रीय आय के वितरण की भांति, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण भी बुनियादी तौर पर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की प्रणाली के स्वरूप से निर्धारित होता है। लेकिन, वितरण का स्वरूप भी उलटकर स्वामित्व की प्रणाली पर प्रतिक्रिया करता है और उसके सुदृढ़ीकरण एवं विकास को प्रभावित करता है।

व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण ''हरेक से उसी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार होता है

उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व की प्रणाली द्वारा वितरण का निर्धारण होता है

किसी भी समाज में उपभोग की वस्तुओं के वितरण का सम्बन्ध मनुष्य की इच्छा या पसन्दगी से निर्धारित नहीं होता। वितरण के सम्बन्ध को स्वामित्व के सम्बन्ध निर्धारित करते हैं। यह बात निर्णायक महत्व की है कि उत्पादन के साधनों को कौन नियंत्रित करता है। मार्क्स ने चिन्हित

किया था—''किसी भी समय उपभोग के साधनों का वितरण स्वयं उत्पादन की स्थितियों के वितरण का एक परिणाम मात्र है। किन्तु उत्पादन की स्थितियों का वितरण स्वयं उत्पादन पद्धति का एक लक्षण है।''[1] पूंजीवादी समाज में, चूंकि उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का नियंत्रण होता है, इसलिए गरीब मजदूर सिर्फ अपना श्रम ही बेच सकते हैं और पूंजीपतियों द्वारा अपना शोषण एवं उत्पीड़न करवाने के लिए बाध्य होते हैं। समाजवादी समाज में, चूंकि उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग, और समग्रता में मेहनतकश जनता का नियंत्रण होता है, इसलिए सार्वजनिक स्वामित्व की समाजवादी प्रणाली स्थापित होती है। सामग्रियों के वितरण की शक्ति सर्वहारा वर्ग और मेहनतकश जनता के हाथों में होती है और वितरण का समाजवादी सिद्धान्त मेहनतकश जनता के पक्ष में खड़ा होता है।

स्पष्ट है, कि वितरण को स्वामित्व की प्रणाली से अलग नहीं किया जा सकता। स्वामित्व की व्यवस्था का सन्दर्भ दिये बिना वितरण की चर्चा करना ''वितरण नियतिवाद'' है। सौ वर्ष से भी अधिक समय पहले जर्मनी के मजदूर आन्दोलन में एक छिपे हुए गद्दार लासाल ने दलील दी थी कि यदि ''न्यायोचित वितरण'' को लागू कर दिया जाए तो मेहनतकश जनता के बीच व्याप्त गरीबी को मिटाया जा सकता है। ल्यू शाओ-ची ने यह बेहूदा मत प्रकट किया था कि ''समाजवादी समाज में उत्पादन सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों के बीच का अन्तरविरोध मुख्यत: वितरण के इर्द-गिर्द प्रकट होता है।'' लिन पियाओ के पार्टी विरोधी गुट के एक प्रमुख सदस्य ने अपनी बदनाम टिप्पणी में लिखा था, ''श्रम के अनुसार वितरण और भौतिक हितों का सिद्धान्त उत्पादन के विकास को ''निर्धारित करने वाली प्रेरक शक्ति'' है। ये सभी सिद्धान्त वितरण नियतिवाद के रंग-रोगन किये हुए संस्करण मात्र हैं। उन परिस्थितियों के अन्तर्गत जहां अभी सर्वहारा द्वारा सत्ता पर कब्जा करना बाकी है, वितरण नियतिवाद की वकालत करने वाले लोग दरअसल पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की प्रशंसा ही करते हैं। उनके अनुसार, पूंजीवाद का दोष, और वह भी बिल्कुल छोटा सा, सिर्फ न्यायोचित वितरण का न होना है। इसलिए, पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की कोई आवश्यकता नहीं है, जरूरत सिर्फ इस बात की है कि वितरण को सुधार दिया जाए। जबकि, बात यह है कि उत्पादन के साधनों पर बुर्जुआ वर्ग के नियंत्रण के बने रहते उत्पादन के सम्बन्ध को बुनियादी रूप से कैसे बदला जा सकता है? वितरण नियतिवाद एक ऐसा जहर है जो क्रान्तिकारी जनता की संघर्ष भावना को निचोड़ लेता है। सर्वहारा वर्ग द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लेने के बाद, जो लोग वितरण नियतिवाद की हिमायत करते हैं, वे क्रान्तिकारी जनता को क्रान्तिकारी ध्येय से विचलित करने से कम कुछ नहीं करते। वे उन्हें बुर्जुआ कल्याणकारिता के रास्ते की ओर ले जाते हैं, और वे उन्हें स्वामित्व की प्रणाली के सुदृढ़ीकरण एवं विकास तथा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत क्रान्ति को जारी रखने के सर्वहारा वर्ग के ऐतिहासिक मिशन को भूल जाने में मदद करते हैं, जिससे ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ जैसे बुर्जुआ जालसाजों द्वारा पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने में मदद मिल सके।

वितरण नियतिवाद की आलोचना करते समय हमें साथ ही साथ यह भी अनिवार्यत: समझ लेना चाहिए कि वितरण पूर्णतया एक निष्क्रिय तत्व नहीं है। वितरण स्वामित्व की प्रणाली से निर्धारित होता है लेकिन यह उलटकर स्वामित्व की प्रणाली को प्रभावित भी करता है। वितरण की भूमिका को कम करके आंकना भी सही नहीं है।

''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' शोषणमूलक व्यवस्थाओं का निषेध है

समाजवादी समाज में, सामाजिक उत्पादों पर मेहनतकश जनता का स्वामित्व होता है। क्या इसका अर्थ यह हुआ कि समूचा सामाजिक उत्पाद उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में कार्यरत मेहनतकश व्यक्तियों को सीधे वितरित किया जा सकता है? निश्चित रूप से नहीं। मार्क्स ने *गोथा कार्यक्रम की आलोचना* में चिन्हित किया था कि समाजवादी समाज में सकल सामाजिक उत्पाद को (मेहनतकश व्यक्तियों के बीच) वितरित करने से पहले उसमें से निम्नलिखित कटौतियां कर लेनी चाहिए : पहला, उपयोग हो चुके उत्पादन के साधनों को बदलने के लिए कोष; दूसरा, पुनरुत्पादन को विस्तारित करने के लिए अतिरिक्त कोष; और तीसरा, प्राकृतिक आपदाओं और आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए सुरक्षित या बीमा का कोष। इसके साथ ही व्यक्तियों को वितरण से पूर्व अन्य आवश्यक कटौतियां भी कर लेनी चाहिए : जैसे पहला, उत्पादन से सीधे जुड़ाव न रखने वाले प्रशासन के सामान्य खर्चों के लिए कोष, दूसरा, सांस्कृतिक एवं लोक कल्याण कोष जिससे सामान्य सामाजिक आवश्यकताएं पूरी हो सकें, जैसे शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाएं और तीसरा, श्रम न कर सकने वाले व्यक्तियों के लिए कोष और इसी तरह के अन्य कोष।[2] आज के समय में, उपर्युक्त कटौतियों के अतिरिक्त समाजवादी राज्य दुनिया की जनता के क्रान्तिकारी संघर्षों को समर्थन देने के लिए भी अनिवार्य रूप से कोष स्थापित करता है।

आवश्यक सामाजिक कटौतियों के बाद सकल सामाजिक उत्पाद में से जो बचता है वह व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का भाग होता है जिसे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं में कार्यरत श्रमिकों के बीच बांटा जा सकता है। समाजवादी समाज में, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण को निर्देशित करने वाला सिद्धान्त है, ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार''। तात्पर्य यह कि सभी श्रमिक अनिवार्य रूप से उत्पादक श्रम में अपना सर्वोत्तम योग देंगे और बदले में समाज प्रत्येक व्यक्तिगत श्रमिक को उसके द्वारा किये गये श्रम के परिमाण के अनुरूप उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण करेगा।

''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के सिद्धान्त का व्यवहार में लागू होना मानव इतिहास में वितरण की व्यवस्था में हुई जबर्दस्त प्रगति को व्यक्त करता है। कई हजार सालों के मानव इतिहास में, जिसमें वर्ग शत्रुताएं मौजूद रही हैं, हर प्रकार की ऐसी व्यवस्थाएं रही हैं जिसमें ''जो श्रम करते हैं वे उसका फल नहीं प्राप्त करते, और जो फल प्राप्त करते हैं वे श्रम नहीं करते'' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य ने मनुष्य का शोषण किया है, मनुष्य ने मनुष्य का उत्पीड़न किया है और मनुष्य ने मनुष्य का विनाश किया है। दास समाज में, दास स्वामीयों अपने दासों के साथ बोलने वाले औजारों जैसा व्यवहार करते थे और उन्हें मवेशियों एवं घोड़ों जैसा जीवन जीने के लिए बाध्य करते थे। सामन्ती समाज में, किसानों को अपनी फसल का 50, 60 और यहां तक कि 80 प्रतिशत तक हिस्सा जमीन्दारों को देना पड़ता था, जबकि उन्हें भीषण गरीबी में जीवन गुजारना पड़ता था। पूंजीवादी समाज में, मजदूरों के श्रम की मजदूरी उनके परिवारों का पेट भरने और कपड़े-लत्ते के लिए भी पर्याप्त नहीं होती। इतना ही नहीं, मजदूर पर लगातार बेरोजगारी का खतरा मण्डराता रहता है। उत्पादन के साधनों के मालिकाने में असमानता

शोषण और शोषितों के बीच उत्पादन के वितरण के क्षेत्र में असमानता को जन्म देती है। समाजवादी समाज में, उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का स्थान सार्वजनिक स्वामित्व ले लेता है। यह ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के सिद्धान्त को व्यवहार में उतारना सम्भव बना देता है, जो मेहनतकश जनता के हित में होता है। यह सिद्धान्त उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण के लिए श्रम को पैमाना बनाता है। सभी शारीरिक रूप से सक्षम व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से श्रम करना चाहिए। जो काम नहीं करेंगे, वे खायेंगे भी नहीं। यह वितरण की उस व्यवस्था का बुनियादी तौर पर निषेध है, जिसमें हजारों वर्षों से मनुष्य का मनुष्य शोषण करता चला आ रहा है। यह वितरण की व्यवस्था में एक बहुत बड़ी प्रगति है।

समाजवादी समाज में, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसकी आवश्यकतानुसार'' के सिद्धान्त के बजाय ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के सिद्धान्त के अनुसार क्यों होना चाहिए? यह इसलिए, क्योंकि समाजवादी समाज अभी पूंजीवादी समाज के गर्भ से जनता ही होता है, और मजदूर एवं किसान के बीच, शहर एवं गांव के बीच तथा मानसिक एवं शारीरिक श्रम के बीच भेद अभी मिटा नहीं होता हे। अधिकांश लोगों के लिए, श्रम अभी उनके जीवन की प्रमुख आवश्यकता नहीं बना होता है।' सामाजिक उत्पाद अभी प्रचुरता की सीमा तक नहीं पहुंचे होते हैं। और समाजवादी समाज में वर्गों एवं वर्ग संघर्ष की मौजूदगी के कारण शोषक वर्ग हमेशा मेहनतकश लोगों के बीच ''आरामतलबी को प्यार करने और श्रम से घृणा करने'' और ''बिना मेहनत के मजा लूटने'' के बुरे विचारों का जहर फैलाते रहते हैं। इन परिस्थितियों में, आवश्यतानुसार वितरण को लागू करना न तो सम्भव है, न व्यावहारिक। सिर्फ ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' का सिद्धान्त ही उत्पादक शक्तियों के विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करता है और विशाल मेहनतकश जनसमुदाय द्वारा समझा और स्वीकार किया जा सकता है।

काम के अनुसार वितरण पुराने समाज से बहुत थोड़ा ही अलग होता है

समाजवादी मंजिल में, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके कार्य के अनुसार'' के सिद्धान्त का पालन करना आवश्यक है। लेकिन निश्चित रूप से कार्य के अनुसार वितरण सर्वहारा वर्ग का सर्वोच्च आदर्श नहीं है। सर्वहारा वर्ग भविष्य में जिस चीज को लागू करने के लिए संघर्षरत होता है, वह है ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसकी आवश्यकता के अनुसार'' का कम्युनिस्ट सिद्धान्त। इसलिए, क्योंकि काम के अनुसार वितरण में अन्तर्निहित समान अधिकार अब भी सिद्धान्त रूप में—''(बुर्जुआ अधिकार)'' ही होता है।[3] ''बुर्जुआ अधिकार की असमानता... उस समय तक *व्याप्त रहती है* जब तक उत्पादों का बंटवारा किये गये श्रम के परिमाण के अनुसार होता है।''[4] मार्क्सवादी सिद्धान्त के अध्ययन की आवश्यकता सम्बन्धी निर्देशों में अध्यक्ष माओ ने चिन्हित किया था कि काम के अनुसार वितरण ''पुराने समाज से बहुत थोड़ा ही अलग होता है।''[5]

यह क्यों कहा जाता है कि काम के अनुसार वितरण पुराने समाज से बहुत थोड़ा ही अलग होता है और इसमें अन्तर्निहित समान अधिकार अब भी बुर्जुआ अधिकार ही होता है? कारण यह है कि कार्य के अनुसार वितरण अब भी उसी सिद्धान्त का अनुसरण करता है जो माल उत्पादन का नियमन करता है, अर्थात, एक रूप में श्रम की एक निश्चित मात्रा और एक दूसरे रूप में श्रम की एक समान मात्रा के बीच विनिमय। विनिमय का यह सिद्धान्त ऊपरी तौर पर समान लगता है, लेकिन वस्तुतः यह असमान है। इस नजरिए से कि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा किये गये श्रम के अनुसार उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण को मापने के लिए समाज एक समान मानक—श्रम—का उपयोग करता है, हर व्यक्ति समान दिखायी पड़ता है। लेकिन, श्रमिकों के बीच परिस्थितियां भिन्न-भिन्न होती हैं, कुछ लोग दूसरों से ज्यादा ताकतवर होते हैं, और कुछ लोग दूसरों की तुलना में उच्चतर सांस्कृतिक एवं तकनीकी स्तर से सम्पन्न होते हैं। इसलिए उनके द्वारा समाज को दिये जा सकने वाले श्रम की मात्रा असमान होती है, और काम के अनुसार वितरण में निहित समान अधिकार ''असमान वैयक्तिक सामर्थ्य को और इस प्रकार असमान उत्पादक कार्यक्षमता को प्राकृतिक विशेषाधिकारों के रूप में मौन स्वीकृति प्रदान करता है।''[6]

इसके साथ ही, विभिन्न श्रमिकों के पारिवारिक दायित्व भी एक समान नहीं होते; कुछ को अधिक व्यक्तियों की जिम्मेदारी सम्भालनी होती है, कुछ को कम और इसी तरह की अनेक भिन्नताएं होती हैं। श्रम की समान मात्रा के बदले में समान पारिश्रमिक मिलाने की स्थितियों में जो ताकतवर हैं, कुशल हैं और जिनके ऊपर कम लोगों की जिम्मेदारी है, उनका जीवनस्तर उच्चतर होता है। इसकी उल्टी परिस्थिति में जीवनस्तर निम्नतर होता है। नतीजतन, वास्तविक रूप में असमानता अस्तित्व में आती है। यह असमानता पुराने समाज की असमानता से भिन्न होती है। लेकिन फिर भी यह सर्वहारा वर्ग के चतुर्दिक प्रचुरता के आदर्श और ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसी आवश्यकता के अनुसार'' के कम्युनिस्ट आदर्श की तुलना में एक ''दोष'' ही होता है। ''कम्युनिस्ट समाज के प्रथम चरण में ये दोष अपरिहार्य हैं क्योंकि यह वह समय है जब एक लम्बी प्रसव-पीड़ा के बाद पूंजीवादी समाज से अभी-अभी यह उत्पन्न ही हुआ है। अधिकार कभी भी समाज की आर्थिक संरचना और उसके द्वारा निर्धारित सांस्कृतिक विकास से ऊपर नहीं हो सकता।''[7]

एक तरफ, व्यक्तिगत उपभोग की वस्तुओं को प्रदत्त श्रम के अनुसार वितरित करने का सिद्धान्त ऐतिहासिक रूप से आवश्यक है और किसी की इच्छा से इसका निषेध नहीं किया जा सकता। लेकिन दूसरी तरफ, इसमें निहित समान अधिकार अभी बुर्जुआ अधिकार ही होते हैं और वह जमीन एवं परिस्थिति मुहैया कराते हैं जिस पर पूंजीवाद फिर से जन्म ले सकता है। इसलिए, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत इन अधिकारों को अनिवार्यतः सीमित करते जाना चाहिए। काम के अनुसार वितरण को इस तरह देखना जैसे यह कोई पवित्र चीज हो, जिसे बढ़ावा दिया जाना चाहिए और बुर्जुआ अधिकार को सुदृढ़, विस्तारित और मजबूत बनाया जाना चाहिए, अनिवार्य रूप से समाज में अमीर और गरीब के बीच ध्रुवीकरण बढ़ायेगा; पूंजीवाद और बुर्जुआ वर्ग को तेजी के साथ विकसित करेगा। इसलिए, सामाजिक उत्पादों की उत्तरोत्तर बढ़ती प्रचुरता और जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती होती कम्युनिस्ट चेतना के साथ काम के अनुसार वितरण से आवश्यकता के अनुसार वितरण में संक्रमण आवश्यक हो जाता है। समाजवादी समाज में, राज्य द्वारा अथवा सामूहिक उपक्रमों

द्वारा संचालित सामाजिक कल्याणकारी सेवाओं, जैसे कर्मचारियों और मजदूरों के लिए मुफ्त स्वास्थ्य सेवाएं और राज्य द्वारा प्रदत्त श्रम बीमा, में आवश्यकता के अनुसार वितरण के कुछ तत्व मौजूद रहते हैं। इसलिए, वर्तमान समय में मंजिलों से होते हुए क्रान्ति के विकास के सिद्धान्त का पालन करना चाहिए और ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसकी आवश्यकता के अनुसार'' के समाजवादी सिद्धान्त को लागू करना चाहिए। लेकिन हमें सतत क्रान्ति के सिद्धान्त पर भी डटे रहना चाहिए, उपयुक्त परिस्थितियां तैयार करने के लिए निरन्तर सचेष्ट रहना चाहिए, धीरे-धीरे आवश्यकता के अनुसार वितरण के तत्वों को बढ़ाते जाना चाहिए और भविष्य में जब परिस्थितियां परिपक्व हो जाएं, ''काम के अनुसार वितरण'' के स्थान पर ''आवश्यकता के अनुसार वितरण'' को लागू कर देना चाहिए।

व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में दो प्रवृत्तियों से बचो

समाजवादी समाज में, काम के अनुसार वितरण के मसले पर तीखा संघर्ष मौजूद होता है। ल्यू शाओ-ची गुट ने साहित्यिक कार्य के लिए ऊंची मजदूरी, ऊंचे बोनस और ऊंचे मुआवजे की वकालत की थी। उन्होंने जनता के बीच एकजुटता को खोखला बनाने के लिए, उत्पादन कार्य में उनकी पहलकदमी और श्रम के प्रति उत्साह को हतोत्साहित करने के लिए, उत्पादक शक्तियों के विकास को बाधित करने के लिए और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना के लिए अपने सामाजिक आधार के रूप में एक विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग को पालने-पोसने के लिए उच्चतम और न्यूनतम तनख्वाहों के बीच भारी अन्तर पैदा करने का प्रयास किया। ल्यू शाओ-ची गुट के इस षड्यंत्र को महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान ध्वस्त कर दिया।

ध्रुवीकरण का विरोध करना और वितरण में अन्तर को कम करते जाना सर्वहारा के क्रान्तिकारी मिशन के अंग हैं। विश्व में सर्वहारा वर्ग की प्रथम सरकार, पेरिस कम्यून, के अनुभवों का समाहार करते हुए मार्क्स ने इस सिद्धान्त को अपनाने के लिए कम्यून के नायकों की प्रशंसा की थी जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि ''कम्यून के सदस्यों से लेकर नीचे के लोगों तक जनसेवा कार्य के लिए वही मजदूरी निर्धारित थी (जो मजदूरों को मिलती थी)।''[8] उन्होंने उस चीज को एक महान नयी चीज की संज्ञा दी थी और इस क्रान्तिकारी अनुभव का पुरजोर समर्थन किया था। सोवियत सरकार की स्थापना के बाद के आरम्भिक काल में वर्ग संघर्ष की आवश्यकताओं के मद्देनजर, लेनिन को अस्थायी तौर पर बुर्जुआ शिक्षित वर्ग के लिए ऊंची तनख्वाहें देने को मजबूर होना पड़ा था। लेकिन, उन्होंने साफ तौर पर चिन्हित किया था : ''सोवियत अधिकारियों... और सोवियत जनता, दोनों पर ऊंची तनख्वाहों का भ्रष्टाचारी प्रभाव—निर्विवाद है,''[9] और उन्होंने ऊंची तनख्वाहों की तीखी आलोचना की थी एवं उसे खारिज किया था। अध्यक्ष माओ लगातार हमें शिक्षा देते रहे हैं : ''हमारे सभी कार्यकर्ता, उनका स्तर जो भी हो, जनता के सेवक हैं।''[10] वह अल्पसंख्या के लिए ऊंचे वेतन का विरोध करते हैं और हमसे मांग करते हैं कि पार्टी में कार्यरत लोगों के बीच, तथा पार्टी और राज्य, उद्यमों, जन-कम्यूनों में कार्यरत लोगों के बीच और आम तौर पर जनता के बीच व्यक्तिगत आय के अन्तर को हम तर्कसंगत ढंग से कम करते जाएं।

सर्वहारा क्रान्ति के शिक्षक क्यों बारम्बार इस समस्या की ओर ध्यान देने की याद दिलाते हैं और बारम्बार पेरिस कम्यून के उसूलों पर अडिग रहने को कहते हैं? प्रथमत:, इसलिए क्योंकि वितरण में ध्रुवीकरण समाजवादी सार्वजनिक स्वामित्व और जनता के बीच समाजवादी पारस्परिक सम्बन्धों के साथ मेल नहीं खाता। समाजवादी समाज में मेहनतकश जनता राज्य और उद्यमों की मालिक होती है। उनका श्रम कौशल बुनियादी रूप से समाज द्वारा प्रदत्त होता है। पुराने समाज में प्रचलित श्रम विभाजन और अन्य परिस्थितियों के कारण उनके द्वारा समाज को प्रदत्त श्रम में भिन्नताएं हो सकती हैं लेकिन जीवनस्तर में भिन्नताएं बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। तीन प्रमुख विभेदों को क्रमश: कम करते जाना सबके लिए प्रचुरता के मार्ग पर आगे बढ़ने की वस्तुगत जरूरत है। दूसरे, यदि वितरण में ध्रुवीकरण को विकसित होने की इजाजत दी जाती है तो समाज में एक विशेषाधिकार प्राप्त संस्तर पैदा होगा। यह पूंजीवाद की बुर्जुआ पुनर्स्थापना के लिए एक सामाजिक आधार मुहैया करेगा। आज के सोवियत संघ में, एक विशेषाधिकार प्राप्त बुर्जुआ वर्ग, जो दूसरों के श्रम उत्पाद को हड़पता है, एक नौकरशाह-एकाधिकारी बुर्जुआ वर्ग का रूप ग्रहण कर चुका है। यह एक नया शोषक वर्ग है, जिसका प्रतिनिधित्व गद्दार ब्रेझनेव गुट करता है और जो सोवियत संघ की मेहनतकश जनता पर शासन करता है। तीसरे, वितरण में ध्रुवीकरण मेहनतकश जनता की एकजुटता को मजबूत बनाने के प्रतिकूल है। यह प्रसिद्धि एवं उपलब्धियों के पीछे भागने जैसे बुर्जुआ विचारों को प्राणवायु भी प्रदान करता है। इसलिए, हमें अनिवार्यत: इस प्रवृत्ति के खिलाफ सतर्क रहना चाहिए।

वितरण में ध्रुवीकरण का विरोध करने का तात्पर्य ऐसा निरपेक्ष समानतावाद नहीं जिसमें कार्य की दुरूहता और श्रम की सघनता एवं वैयक्तिक योगदानों में अन्तरों को नजरअन्दाज करते हुए सभी श्रम मुआवजे बराबर कर दिये जाते हैं। पेरिस कम्यून ने यह हिमायत की थी कि सभी राज्य कर्मियों को सिर्फ उतनी ही तनख्वाह मिलनी चाहिए जितनी मजदूरों को मिलती है। फिर भी, इसने मजदूरों के बीच मजदूरी की भिन्नताओं को भी स्वीकार किया था। लेकिन यह भिन्नता बहुत अधिक नहीं होनी चाहिए। निरपेक्ष समानतावाद ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके कार्य के अनुसार'' के समाजवादी सिद्धान्त के साथ पूर्णत: बेमेल है। इसका अनिवार्यत: विरोध किया जाना चाहिए। चालीस से भी अधिक वर्ष पहले, अध्यक्ष माओ ने स्पष्टता के साथ चिन्हित किया था कि ''निरपेक्ष समानतावाद केवल किसानों का और निम्न पूंजीपति वर्ग के अन्य हिस्सों का भ्रममात्र ही होता है, तथा समाजवाद के अन्तर्गत भी निरपेक्ष समानता कायम नहीं की जा सकती, क्योंकि तब भी भौतिक चीजों का वितरण 'हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, और हरेक को उसके काम के अनुसार' के उसूल तथा काम की आवश्यकताओं के अनुसार ही किया जाएगा।''[11] वितरण में ध्रुवीकरण के समान ही निरपेक्ष समानतावाद श्रम की क्रियाशीलता के लिए नुकसानदेह होता है, उत्पादन के विकास को बाधित करता है, सामाजिक उत्पाद की बढ़ोत्तरी पर विपरीत प्रभाव डालता है और समाजवादी उद्यमों के लिए अहितकर होता है।

समाजवादी समाज में, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण के लिए यह आवश्यक होता है कि हम, एक ओर काम के अनुसार वितरण के उसूल को लागू करें और विभेदों के अस्तित्व को स्वीकार करें। दूसरी ओर, समाजवादी वितरण के लिए यह भी आवश्यक होता है कि हम ध्रुवीकरण होने से बचायें और काम के अनुसार वितरण में निहित

बुर्जुआ अधिकारों को सचेतन रूप से सीमित करें, और इस तरह मजदूरों के बीच जीवनस्तर क्रमश: समान बनाते जाएं, जिससे आम प्रचुरता का लक्ष्य हासिल किया जा सके। यह एक अन्तरविरोध है, और यदि इस अन्तरविरोध को दी गयी परिस्थितियों में सापेक्षत: सही ढंग से सुलझा लिया गया तो भी परिस्थितियां बदलने पर नये अन्तरविरोध उभर जाएंगे। इसलिए, यह जरूरी है कि हम गम्भीरतापूर्वक मार्क्सवाद का अध्ययन करें, पार्टी की नीतियों को दृढ़तापूर्वक आत्मसात करें, गहराई से जांच-पड़ताल और अनुसन्धान का काम करें, जनसमुदाय पर दृढ़तापूर्वक भरोसा करें, और सर्वहारा राजनीति को कमान में रखते हुए इन अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करें।

व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण के दो बुनियादी रूप हैं

राजकीय अर्थव्यवस्था में वितरण का मुख्य रूप मजदूरी व्यवस्था है

माल उत्पादन और माल विनिमय समाजवाद की मंजिल में भी मौजूद रहते हैं। इन परिस्थितियों में, राज्य अपने कर्मचारियों और मजदूरों को उनके द्वारा समाज को प्रदत्त श्रम की मात्रा के एवज में श्रम मुआवजे के रूप में एक निश्चित राशि की मुद्रा का भुगतान करता है। कर्मचारियों-मजदूरों को मिलने वाली यह मुद्रा आय मजदूरी कहलाती है, और समाजवादी राजकीय स्वामित्व की व्यवस्था के अन्तर्गत एक सुनिश्चित मानक के अनुसार उन्हें भुगतान किया जाता है।

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरी और पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूरी एक दूसरे से भिन्न उत्पादन सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमशक्ति एक माल होती है। मजदूरी श्रमशक्ति की बिक्री के बदले में प्राप्त आय होती है। इस मजदूरी व्यवस्था में मालिक एवं कर्मचारी के सम्बन्ध और शोषक एवं शोषित के सम्बन्ध निहित होते हैं जो मजदूर को पूंजीपति के साथ बांधे रखते हैं। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, मजदूर राज्य और उद्यमों के मालिक होते हैं। श्रमशक्ति एक माल नहीं होती। मजदूरी अब श्रमशक्ति की कीमत या मूल्य का रूपान्तरण नहीं होती। वह अब ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, और हरेक को उसके काम के अनुसार'' के उसूल के अनुसार, मुद्रा के उपयोग द्वारा व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के राजकीय वितरण का एक रूप होती है।

मजदूरी के दो प्रमुख रूप होते हैं—समय आधारित (टाइम-रेट) मजदूरी और काम आधारित (पीस-रेट) मजदूरी। समय आधारित मजदूरी की गणना श्रमकाल के आधार पर की जाती है। किसी निर्दिष्ट समयावधि में, वितरण के समाजवादी उसूलों के अनुसार तय किये गये मजदूरी के स्तर के आधार पर दिन या महीने को जोड़कर एक सुनिश्चित मजदूरी दी जाती है। काम आधारित मजदूरी की गणना श्रम उत्पाद के आधार पर की जाती है। मजदूर द्वारा बनाये गये एक निश्चित गुणवत्ता के उत्पाद की संख्या के अनुसार प्रति-इकाई दर से मजदूरी दी जाती है। चीन में, मजदूरी के ये दोनों रूप विकास की एक प्रक्रिया से होकर गुजरे हैं। 1958 के पहले, बड़ी संख्या में उन पेशों और कामों में, जहां हाथ से काम होता था, काम आधारित मजदूरी व्यवस्था लागू थी। यह चीन में उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर और कर्मचारियों एवं मजदूरों की व्यापक आबादी के बीच विचारधारात्मक चेतना की अवस्था से मेल खाता था। यह उत्पादन के विकास और पुनरुद्धार में सहायक था। लेकिन, मशीनीकरण और स्वचालन के विकास के साथ, और कर्मचारियों एवं मजदूरों की विचारधारात्मक चेतना के उन्नत होने के साथ, विशेषकर 1958 में महान अग्रवर्ती छलांग के बाद, काम आधारित मजदूरी व्यवस्था की कई कमियां एवं नकारात्मक प्रभाव उजागर हुए। पहला, तकनीकी प्रगति के साथ विभिन्न प्रकार के कामों में अलग-अलग काम आधारित मजदूरी को लागू करना उत्तरोत्तर कठिन होता गया। इसके साथ ही, काम आधारित मजदूरी व्यवस्था नयी तकनीकों की खोज पर बुरा असर डाल रही थी। दूसरे, काम आधारित व्यवस्था मजदूरों के बीच एकजुटता के लिए अहितकर थी। इसके चलते समय आधारित मजदूरों एवं काम आधारित मजदूरों के बीच, नये और पुराने मजदूरों के बीच, चढ़ान और उतार की कार्य प्रक्रियाओं के बीच और अलग-अलग शिफ्टों के मजदूरों के बीच अन्तरविरोधों को बढ़ाया। तीसरे, काम आधारित व्यवस्था ने सामूहिक उद्यम के बजाय प्राथमिकता में व्यक्तिगत आय के साथ सरोकार रखने के विचार को खाद-पानी दिया। यह राजनीतिक एवं विचारधारात्मक चेतना को उन्नत बनाने के भी प्रतिकूल था। इसलिए, कर्मचारियों एवं मजदूरों की व्यापक आबादी की मांग पर अधिकांश उद्यमों में काम आधारित व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया और समय आधारित व्यवस्था को अपनाया गया। आज चीन में मुख्यत: समय आधारित मजदूरी के स्वरूप को ही प्रयोग में लाया जाता है। काम आधारित मजदूरी केवल कुछ इकाइयों और कुछेक प्रकार के कामों में ही दी जाती है।

मजदूरी का मुद्दा एक जटिल मुद्दा है। इसमें केवल राज्य, सामूहिक उद्यमों एवं व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध ही नहीं जुड़ा है, बल्कि मजदूरों के आपसी सम्बन्ध, मजदूरों एवं किसानों, और एक ओर मजदूर-किसान तथा दूसरी ओर अन्य मेहनतकश जनता के बीच सम्बन्ध भी जुड़ा हुआ है। मजदूरी के मुद्दे को बेहद गम्भीरता और सावधानीपूर्वक हल किया जाना चाहिए। चीन की मजदूरी व्यवस्था में कई रूपान्तरणों के बावजूद अब भी कई समस्याएं मौजूद हैं, जिन्हें हल करने की आवश्यकता है। अध्यक्ष माओ ने चिन्हित किया था : ''वर्तमान समय में हमारे देश में माल व्यवस्था का चलन है, मजदूरी व्यवस्था भी असमान है, जैसा कि आठ ग्रेड वाले वेतनमान और अन्य चीजों में दिखायी देता है। सर्वहारा के अधिनायकत्व के अन्तर्गत ऐसी चीजों को सिर्फ सीमित ही किया जा सकता है।''[12] मजदूरी व्यवस्था में असमानता काम के अनुसार वितरण की असमानता की अभिव्यक्ति है। आठ ग्रेड की मजदूरी व्यवस्था उत्पादन में लगे मजदूरों के बीच लागू व्यवस्था है। यह व्यवस्था श्रम के उत्साह को जागृत करने में मजदूरी विभेद द्वारा निभायी जाने वाली प्रोत्साहनकारी भूमिका पर जोर देती है, और मजदूरी के ग्रेड को निर्धारित करने में श्रम की जटिलता और कौशल को ही एकमात्र मानक के रूप में लागू करती है। आठ ग्रेड की मजदूरी व्यवस्था के प्रयोग से, जटिल और सरल श्रम तथा कुशल एवं अकुशल श्रम के बीच मजदूरी से प्राप्त आय में खासा अन्तर पैदा होता है। चूंकि इस मजदूरी व्यवस्था में निहित बुर्जुआ अधिकार ज्यादा स्पष्ट हैं, इसलिए यह और भी आवश्यक है कि सर्वहारा अधिनायकत्व के अन्तर्गत इसे सीमित किया जाए।

मजदूरी के अतिरिक्त, समाजवादी समाज में किन्हीं विशेष समयों और किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अन्तर्गत उन कर्मचारियों और मजदूरों को प्रोत्साहित करने के लिए जिन्होंने औरों से बेहतर काम किया है और कुछ विशेष उपलब्धियां हासिल की हैं, बोनस देने के रूप का इस्तेमाल भी किया जाता है। बोनस का रूप ''पैसा बनाने के लिए काम करने'' के बुर्जुआ फ्रेमवर्क को नहीं तोड़ता। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के पहले, और ल्यू शाओ-ची की संशोधनवादी लाइन के प्रभाव के तहत

चीन में कई कारखाने और उद्यम सर्वहारा राजनीति को प्रोत्साहित नहीं करते थे और बोनस बांटने का सहारा लेते थे। जैसा कि अध्यक्ष माओ ने इंगित किया था : ''ऐसा नहीं था कि कारखानों के नेतृत्व में अच्छे लोग नहीं थे। लेकिन वे ल्यू शाओ-ची की लाइन का अनुसरण करते थे, सिर्फ भौतिक प्रोत्साहन का सहारा लेते थे, मुनाफे को कमान में रखते थे, और सर्वहारा राजनीति को आगे बढ़ाने के बजाय बोनस बांटते रहते थे, और इसी प्रकार के दूसरे काम करते थे।''[13] इस अनुभव ने जाहिर कर दिया था कि जब सर्वहारा राजनीति को कमान में नहीं रखा जाएगा, और जब इसके बदले में, भौतिक प्रोत्साहनों का सहारा लेकर और उत्पादन के कामों में जनसमुदाय की क्रियाशीलता को तेज करने के लिए बोनस को लागू कर बुर्जुआ अधिकारों को विस्तारित और मजबूत बनाया जाएगा तो जनसमुदाय के विश्व दृष्टिकोण को क्षरित होने से रोका नहीं जा सकेगा— यह मजदूरों के बीच वैमनस्य के बीज बोयेगा, उद्यमों के गलत दिशा में मुड़ जाने और संशोधनवाद के कीचड़कुण्ड में लुढ़क जाने का कारण बनेगा।

समाजवादी क्रान्ति और निर्माण के अनुभव दिखाते हैं कि मजदूरी के मुद्दे को हल करते समय हमें राजनीति को कमान में रखने पर जोर देना चाहिए और विचारधारात्मक शिक्षा को मजबूत बनाना चाहिए। हमें निम्नलिखित उसूलों की ओर भी अनिवार्यत: ध्यान देना चाहिए। उत्पादन के विकसित होने और श्रम उत्पादकता के बढ़ने के आधार पर, कर्मचारियों और मजदूरों की मजदूरी धीरे-धीरे बढ़ायी जानी चाहिए, लेकिन इसे बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जाना चाहिए। मजदूरी में बढ़ोत्तरी की मात्रा श्रम उत्पादकता में बढ़ोत्तरी से अधिक नहीं होनी चाहिए। मजदूरी मानकों और वृद्धियों को निर्धारित करने के लिए, मजदूर और किसान के बीच सम्बन्ध को ध्यान में रखते हुए अनिवार्य रूप से एक समग्र व्यवस्था करनी चाहिए। कर्मचारियों और मजदूरों के वेतनमानों का निर्धारण करते समय हमें निश्चित रूप से ध्रुवीकरण एवं विभेदों को बढ़ाने की प्रवृत्ति का विरोध करना चाहिए, लेकिन इसके साथ ही ऐसी चीजों के खिलाफ भी खड़े होना चाहिए जो मजदूरी में विभेदीकरण को नकारकर निरपेक्ष समानतावाद की ओर ले जाने वाली हों। मजदूरी में बढ़ोत्तरी और सामूहिक लोकहितकारी कार्य साथ-साथ चलना चाहिए, जिससे कि व्यक्तिगत आमदनियों की तुलना में सामूहिक लोकहित के कार्य का अनुपात ऊंचा उठता जाए और जिससे कि उन कारकों को आगे बढ़ाया जा सके और उनका परीक्षण किया जा सके जिनके परिणामस्वरूप आवश्यकता के अनुसार वितरण को लागू किया जा सकेगा।

समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत, आवश्यकता के अनुसार वितरण की परिस्थितियां उत्पादन में विकास के साथ-साथ बेहतर होने लगती हैं। इसलिए, मजदूरों के जीवनस्तर में हुई हर बढ़ोत्तरी न केवल मजदूरी में बढ़ोत्तरी के रूप में अभिव्यक्त होनी चाहिए, बल्कि आवश्यकता के अनुसार वितरण की परिस्थितियों, जैसे सामाजिक लोक कल्याण कार्यों, की बेहतरी के रूप में भी अभिव्यक्त होनी चाहिए। आधुनिक क्रान्तिकारी पीकिङ *ऑपेरा आन दि डॉक्स* में, अवकाशप्राप्त गोदी मजदूर मा हुङ लियाङ गाता है : ''हम गोदी मजदूर बने हैं गर्वीले मालिक, नये समाज में। होती है हमारी देख-रेख बचपन, बुढ़ापे, बीमारी और मौत में। स्वर्ग से भी ऊंचा है परोपकार कम्युनिस्ट पार्टी और अध्यक्ष माओ का।'' ये वाक्य नये समाज में मुक्त हुए मजदूर वर्ग की सच्ची भावनाएं हैं। ये समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों की असीम श्रेष्ठता को प्रतिबिम्बित करते हैं। पूंजीवादी मजदूरी और समाजवादी मजदूरी के बुनियादी अन्तर को और नये एवं पुराने समाज के वितरण सम्बन्धों में बुनियादी अन्तर को समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह समझदारी अपने भाग्य नियन्ता होने की जिम्मेदारी को और अधिक महसूस करने एवं समाजवादी श्रम की चेतना को उन्नत करने में मददगार साबित हो सकती है।

वर्क प्वाइण्ट व्यवस्था देहाती सामूहिक अर्थव्यवस्था में वितरण का मुख्य रूप है

देहाती जन-कम्यूनों की सामूहिक अर्थव्यवस्था में भी व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के उसूल पर ही होता है। लेकिन, सामूहिक स्वामित्व की प्रणाली में सार्वजनिक स्वामित्व का स्तर समूची जनता द्वारा स्वामित्व से भिन्न होता है, इसलिए इसके अन्तर्गत वितरण के ठोस रूप की विशेषताएं भिन्न होती हैं। समूची जनता के स्वामित्व वाली इकाइयों में उत्पादन के साधन और उत्पाद राज्य की सम्पत्ति होते हैं और उनका वितरण केन्द्रीकृत रूप से राज्य द्वारा ही किया जाता है। इसलिए, पूरे समाज के स्तर पर श्रम मुआवजे का मानकीकरण किया जा सकता है और मुद्रा के रूप में मजदूरी दी जा सकती है। वर्तमान मंजिल में देहाती जन-कम्यूनों की सामूहिक व्यवस्था में ''बुनियादी स्तर पर उत्पादन टीम के साथ त्रिस्तरीय स्वामित्व'' की प्रणाली अपनायी गयी है। उत्पादन के साधन और उत्पाद विभिन्न सामूहिक इकाइयों की सम्पत्ति होते हैं। इसलिए, पूरे समाज के स्तर पर वितरण को लागू नहीं किया जा सकता। यहां तक कि कम्यूनों और उत्पादन टीमों के दायरों को तोड़कर उनके स्तर पर भी समान वितरण नहीं लागू किया जा सकता। एक सामूहिक इकाई के भीतर स्वतंत्र रूप से उसकी स्वयं की परिस्थितियों के अनुसार ही वितरण को लागू किया जा सकता है।

कम्यून संचालित उद्यमों को छोड़कर, जिसमें मजदूरी व्यवस्था आंशिक रूप से इसलिए लागू है क्योंकि उन्हें प्राप्त होने वाले राजस्व तुलनात्मक रूप से स्थिर हैं, देहाती जन-कम्यूनों की सामूहिक अर्थव्यवस्था में काम के अनुसार वितरण कार्य मूल्यांकन और वर्क प्वाइण्ट (कार्य अंक) आवण्टन द्वारा किया जाता है। कुछ उत्पादन टीमों में, कृषि कार्य के लिए श्रम कोटा पर आधारित वर्क प्वाइण्टों का आवण्टन जनसमुदाय में प्रचलित कुछ खास रीति-रिवाजों को भी ध्यान में रखकर किया जाता है। वर्क प्वाइण्ट एक मानक हैं जिनके आधार पर सामूहिक श्रम में सदस्यों की भागीदारी की माप की जाती है। वे काम के लिए आय के वितरण के मानक भी होते हैं। किसी उत्पादन टीम के एक सदस्य को प्राप्त आय की मात्रा का निर्धारण वर्क प्वाइण्ट्स की मात्रा के साथ ही साथ प्रत्येक वर्क प्वाइण्ट के मुद्रा मूल्य (वर्क प्वाइण्ट मूल्य) द्वारा भी किया जाता है। वर्क प्वाइण्ट्स का मुद्रा मूल्य पहले से ही निर्धारित नहीं होता। इसका निर्धारण संचय के लिए एक निश्चित राशि के कोष की कटौती के बाद उत्पादन टीम की वार्षिक आय के आधार पर किया जाता है। प्रबन्धन एवं संचालन, तकनीक एवं कल-पुर्जो, प्राकृतिक कारकों एवं परिवहन की दशाओं में भिन्नताओं के कारण विभिन्न उत्पादन टीमों की आय अलग-अलग होती है। इसलिए, भिन्न-भिन्न उत्पादन टीमों के सदस्यों की आय भी एक समान नहीं होती। इन अन्तरों को पिछड़े हुए कम्यूनों, ब्रिगेडों एवं टीमों की सक्रिय मदद द्वारा क्रमश: दूर किया जाना चाहिए जिससे वे आगे बढ़ी हुई इकाइयों तक पहुंच सकें। लेकिन, निरपेक्ष समानतावाद से अनिवार्य रूप से बचना चाहिए, अन्यथा कृषि उत्पादन के विकास एवं

सामूहिक अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

''हमें सामान्य वर्षों में बढ़े हुए उत्पादन के आधार पर साल-दर-साल किसानों की व्यक्तिगत आय बढ़ाने के लिए हरसम्भव उपाय करना चाहिए।''[14] यह महत्वपूर्ण है कि इस जरूरत को पूरा किया जाए। ये केवल किसानों के आजीविका को सुधारने के हित में ही नहीं है बल्कि सामूहिक अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ीकरण एवं विकास और सर्वहारा की राजनीतिक सत्ता के सुदृढ़ीकरण के हित में भी है।

किसानों की आय को कैसे बढ़ाया जा सकता है? अन्ततः, वितरण को बेहतर बनाने से पहले हमें उत्पादन का विकास तो करना ही होगा। उत्पादन के विकास के लिए, हमें अनिवार्यतः सर्वहारा की राजनीति को कमान में रखना होगा, किसानों को मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ त्से-तुङ विचारधारा से लैस करना होगा, और व्यापक किसान समुदाय की श्रम सक्रियता को पूरी तरह जगाने के लिए इस विचार को आगे बढ़ाना होगा कि क्रान्ति के लिए खेती करो। हमें सर्वतोमुखी विकास को सुनिश्चित करने के लिए और देहाती क्षेत्रों में श्रमशक्ति, भौतिक संसाधनों एवं वित्तीय संसाधनों को पूरी तरह उपयोग में लाने के लिए खाद्यान्न को कुंजीभूत कड़ी मानने की नीति के व्यापक अमल पर अडिग रहना चाहिए। हमें फसलों की उपज को बढ़ाने के लिए अनिवार्य रूप से प्रबन्धन एवं संचालन को सुदृढ़ करना चाहिए एवं वैज्ञानिक विधि से खेती करनी चाहिए। हमें सावधानीपूर्वक बजट बनाना चाहिए, अर्थव्यवस्था पर कड़ा नियंत्रण करना चाहिए और जहां तक सम्भव हो लागत को कम करने के लिए नये-नये विकल्पों को ढूंढ़ना चाहिए, तथा उत्पादन एवं आय बढ़ाना चाहिए और इस तरह के सभी प्रयास करने चाहिए।

बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा की आलोचना करो और इसे खारिज करो; श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करो

समाजवाद के निर्माण और कम्युनिज्म तक पहुंचने के लिए जरूरी है कि श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया जाए

समाजवादी समाज में, व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, और हरेक को उसके काम के अनुसार'' का उसूल अनिवार्य रूप से लागू करना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं। लेकिन काम के अनुसार वितरण का उसूल पत्थर की लकीर नहीं है। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ, यह कदम-ब-कदम ''आवश्यकता के अनुसार वितरण'' की ओर विकसित होगा और जब हम भविष्य में कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़ेंगे तब ''आवश्यकता के अनुसार वितरण'' पूरी तरह इसका स्थान ले लेगा। इसके लिए आवश्यक है कि हम अपने कामों में वितरण के समाजवादी उसूलों को रचा-पचा लें। लेकिन, इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हम आगे की ओर देखें और हम बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा को खारिज करें और श्रम के प्रति कम्युनिस्ट रुख की गर्मजोशी के साथ प्रशंसा करें और इसका पूरी तरह समर्थन करें।

कम्युनिस्ट श्रम क्या है? लेनिन ने कहा था: ''अपेक्षाकृत संकुचित और सटीक शाब्दिक अर्थ में कम्युनिस्ट श्रम का अर्थ समाज के हित में हानि-लाभ की इच्छा के बिना किया गया श्रम है, ऐसा श्रम जो किसी निश्चित ड्यूटी को पूरा करने के लिए नहीं किया जाता, जो किसी निश्चित उत्पाद का अधिकार हासिल करने के लिए नहीं किया जाता, जो पहले से लागू और कानूनी रूप से निर्धारित कोटे के अनुसार नहीं किया जाता, बल्कि कोटे की परवाह किये बिना, स्वैच्छिक श्रम होता है; यह ऐसा श्रम है जो बदले में किसी ईनाम की आशा नहीं रखता, या ईनाम उसके लिए कोई शर्त नहीं होती।''[15]

केवल सर्वहारा द्वारा राजनीतिक सत्ता पर कब्जा कर लेने के बाद, जब मेहनतकश अवाम राज्य और उद्यमों का मालिक बन जाता है, केवल तभी कम्युनिस्ट श्रम का उदय हो सकता है और यह विकसित हो सकता है। शोषण की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत, मेहनतकश जनता केवल शोषक वर्गों के लिए खटती है—इसलिए, श्रम या श्रम सक्रियता के लिए कोई उत्साह नहीं पैदा हो सकता। समाजवादी समाज में, चीजें बिलकुल अलग होती हैं। मेहनतकश जनता भाड़े के गुलामों से बदलकर राज्य और उद्यमों की मालिक बन जाती है। हर काम और श्रम का हर उत्पाद मेहनतकश जनता के हितों के साथ जुड़ जाता है। मेहनतकश जनता अब शोषकों के लिए नहीं बल्कि अपने वर्ग के लिए मेहनत करती है—इसलिए, उसके बीच असीम समाजवादी उत्साह और सक्रियता पैदा हो जाती है। श्रम के प्रति कम्यनिस्ट रुख के क्रमिक विकास के लिए यह एक बुनियादी शर्त होती है।

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण का उभरना और कदम-ब-कदम उसका विकास मानव इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। हमें श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को प्रचारित करना चाहिए और उसकी प्रशंसा करनी चाहिए। हमें इसे फैलाना चाहिए और पुरानी दुनिया को उखाड़ फेंकने और कम्युनिस्ट नयी दुनिया की स्थापना करने के लिए इसे एक मजबूत ताकत में बदल देना चाहिए।

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण का विकास ''परम्परागत सम्पत्ति सम्बन्धों के साथ सर्वाधिक मूलभूत विच्छेद है,... परम्परागत विचारों से सर्वाधिक मूलभूत विच्छेद है''[16], और बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा से सम्पूर्ण विच्छेद है।

बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा, विचारधारा के क्षेत्र में बुर्जुआ अधिकार का प्रतिबिम्बन है। व्यक्तिगत उपभोक्ता सामग्रियों के वितरण में, ''बुर्जुआ अधिकार का संकीर्ण दायरा... शाइलाक की हृदयहीनता के साथ यह हिसाब लगाने के लिए मजबूर करता है कि कहीं उसने दूसरे से आधा घण्टा अधिक तो नहीं काम कर दिया था कि कहीं उसे दूसरों से कम तनख्वाह तो नहीं मिल रही है।''[17] यदि हम बुर्जुआ अधिकार की विचारधारा से सम्पूर्ण विच्छेद नहीं करते और सिर्फ पैसे के लिए काम करने के पूंजीवादी धर्मसिद्धान्त की गम्भीर आलोचना नहीं करते और उसकी धज्जियां नहीं उड़ाते, तो इस युद्ध के मैदान में सर्वहारा की विचारधारा की विजय नहीं हो सकती, श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण अपनी पकड़ मजबूत नहीं बना सकता और इससे समाजवादी क्रान्ति एवं निर्माण बाधित होगा। इसलिए, हमें ''कम्युनिस्ट विचारों को और अधिक व्यापक रूप से फैलाना'' चाहिए।

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को विकसित करना समाजवादी निर्माण को त्वरान्वित कर सकता है और कम्युनिज्म तक पहुंचने के लिए अनुकूल परिस्थितियों को सक्रिय रूप से तैयार कर सकता है। कम्युनिस्ट समाज मानव समाज का उज्ज्वलतम और सुन्दरतम रूप है; यह एक लक्ष्य है जिसके लिए सर्वहारा और मेहनतकश जनता को जद्दोजहद करनी ही होगी। यद्यपि कम्युनिस्ट समाज सामाजिक विकास की अप्रतिरोध्य रुझान है, लेकिन इसे केवल क्रान्तिकारी जनता के साहसिक संघर्ष और

कठिन एवं अथक परिश्रम से ही हासिल किया जा सकता है। मुक्ति से पहले, हमारे क्रान्तिकारी अग्रजों को नून, तेल और सब्जियों के लिए प्रति व्यक्ति प्रतिदिन सिर्फ पांच सेण्ट मिलते थे। उनको न कोई मजदूरी मिलती थी और न ही अन्य कोई कल्याणकारी लाभ। विकटतम परिस्थितियों में, उन्होंने साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और नौकरशाह, एकाधिकारी पूंजीवाद के खिलाफ और सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष किया। उन्होंने कठिन परिश्रम किया और साहसपूर्वक लड़ाई लड़ी। यही वह कम्युनिस्ट भावना थी जिसने प्रतिक्रियावादियों को पराजित करने और एक नये चीन का निर्माण करने में हमारे क्रान्तिकारी अग्रजों को मदद पहुंचायी। आज, यदि हमें समाजवादी समाज का निर्माण करना है और भविष्य में कम्युनिस्ट समाज तक पहुंचना है—तो हमें कुछ पाने की परवाह किये बिना कठिन परिश्रम करने की कम्युनिस्ट भावना और बहादुराना संघर्ष की क्रान्तिकारी परम्परा को आगे बढ़ाना होगा।

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण का विकास करने में, हमें अनिवार्यत: भौतिक प्रोत्साहनों की आलोचना करनी चाहिए और उन्हें खारिज करना चाहिए

श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण का उभरना और कदम-ब-कदम अपनी जड़ें मजबूत बनाते जाना कम्युनिस्ट विचारधारा के क्रमिक विकास और पूंजीवादी विचारधारा के क्रमिक ह्रास का सूचक है। इसलिए, श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को पालने-पोसने और आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में यह अपरिहार्य है कि दो वर्गों के बीच, दो विचारधाराओं के बीच और दो लाइनों के बीच भीषण संघर्ष छिड़ जाए। मुद्रा और मुनाफे के प्रति आकर्षित होना बुर्जुआ वर्ग की प्रकृति है। लेकिन बुर्जुआ वर्ग इसका सार्वभौमिक मानव प्रकृति के रूप में सामान्यीकरण करता है। इस बात को प्रचारित करके कि ''पैसे के लिए काम करना सहज मानवीय है'', वे सर्वहारा को दूषित करने की आशा रखते हैं।

आधुनिक संशोधनवादी ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, और हरेक को उसके काम के अनुसार'' के समाजवादी उसूल के स्थान पर ''भौतिक प्रोत्साहनों'' को रखने की कोशिश करते हैं। वे मेहनतकश जनता को भाड़े के गुलाम समझते हैं और सोचते हैं कि यदि प्रोत्साहन के रूप में पैसे का उपयोग न किया जाए तो श्रम सक्रियता पैदा ही नहीं हो सकती। सोवियत संशोधनवादियों ने लगातार ''भौतिक प्रोत्साहनों'' की वकालत की। उन्होंने बेहूदगी के साथ घोषित किया कि ''भौतिक प्रोत्साहन'' श्रम उत्पादकता को बढ़ाने के लिए ''एक महत्वपूर्ण उत्तोलक'' है। भौतिक प्रोत्साहनों की वकालत करते हुए ल्यू शाओ-ची और लिन पियाओ जैसे लोग इस हद तक आगे बढ़ जाते थे कि वे अपने तर्कों को कन्फ्यूशियस के इन कुतर्कों के आधार पर खड़ा करने लगते हैं—''भ्रदजन इस सोच पर चलते हैं कि क्या सही है और छोटे लोग इस फिराक में रहते हैं कि क्या फायदेमन्द है।'' वे दावा करते थे कि ''भौतिक प्रोत्साहनों से काम करने की चालक शक्ति उत्प्रेरित हो जाती है'' और ''श्रम सक्रियता ऊंची नहीं उठ सकती यदि हम थोड़ा और पैसा न बढ़ायें''। श्रमिक जनता के बारे में उन्होंने यह घोषित कर दुष्प्रचार किया कि इन लोगों के दिमागों में सिर्फ ''आसमान से पैसा बरसने'' और ''दौलत एवं खजाने'' के विचार ही भरे हुए हैं। ''मजदूरी की तगड़ी भूमिका'' की तारीफें करते हुए उन्होंने भौतिक प्रोत्साहनों को रामबाण का दर्जा दे दिया। वे इतना हो-हल्ला क्यों मचाते थे? उनका अन्तिम इरादा वितरण में बुर्जुआ तत्वों को पालना-पोसना और पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करना था। मजदूर कामरेडों ने इसे सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है : ''भौतिक प्रोत्साहन क्रान्तिकारी संघर्ष भावना को लकवाग्रस्त करने वाली अफीम मिश्रित दवा के समान हैं, आर्सेनिक की मीठी गोली और मुलायम छुरा हैं, जो बिना एक बून्द खून बहाये हत्या कर सकते हैं।''

समाजवादी समाज में, श्रम के ऊपर आराम की बुर्जुआ वरीयता अपरिहार्यत: मेहनतकश जनता के बीच भी प्रतिबिम्बित होती है जिसके चलते उनमें से कुछ कड़ी मेहनत नहीं करते और उनकी समाजवादी श्रम सक्रियता ऊंची नहीं होती। ऐसे मामलों में हम क्या कर सकते हैं? क्या हमें राजनीति को कमान में रखना और विचारधारात्मक शिक्षा को सुदृढ करना जारी रखना चाहिए अथवा हमें भौतिक प्रोत्साहनों पर निर्भर हो जाना चाहिए और नकद आना-पाई को कमान में रखना चाहिए? सर्वहारा और मेहनतकश जनता के लिए यह बुनियादी दिशा से जुड़ा प्रश्न है। यह प्रश्न है कि हमें किस मार्ग पर चलना चाहिए।

राजनीति आत्मा की नियंत्रणकारी शक्ति है। केवल सर्वहारा राजनीति को कमान में रखकर, विचारधारा और राजनीति पर अच्छी पकड़ कायम करके, व्यापक जनता को समाजवादी और कम्युनिस्ट विचारधारा से लगातार लैस करते हुए, पूंजीवादी प्रवृत्तियों की आलोचना और उन्हें खारिज करते हुए और इसके साथ ही गम्भीरता से ''हरेक से उसकी योग्यता के अनुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के उसूल को आगे बढ़ाते हुए ही जनता के समाजवादी उत्साह और सक्रियता को पूरी तरह गोलबन्द किया जा सकता है। मेहनतकश जनता को मार्क्सवादी विचारधारा से शिक्षित करना एक बेहद कठिन काम है। इसे पूरी लगन के साथ और समूची ऊर्जा लगाकर ही किया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार उन्मुक्त हुई सक्रियता समाजवादी होती है, कम्युनिस्ट होती है, ठोस और दीर्घजीवी होती है।

जो लोग पूंजीवादी भौतिक प्रोत्साहनों से गहराई से प्रभावित हुए थे वे अलग ढंग से व्यवहार करते थे। उनके मन में विचारधारात्मक कार्यों के प्रभावों के बारे में बुनियादी सन्देह थे। ऐसे कुछ लोग कुछ विचारधारात्मक कार्य करना शुरू करते हथे, लेकिन एक-दो बुरे अनुभवों के बाद वे यह सोचकर सिर झटक देते थे कि विचारधारात्मक कार्य का कोई टिकाऊ प्रभाव नहीं होता। वे कहा करते थे कि ''यह नहीं चलेगा। केवल पैसा ही काम चला सकता है।'' वे श्रमसाध्य ढंग से और संजीदगी के साथ विचारधारात्मक कार्य संचालित करने से डरते थे। जब कठिनाइयां सामने आती थीं तो वे बोनस की शरण में जा पहुंचते थे। लेकिन इसका नतीजा भी आम तौर पर बेहतर नहीं होता था। ''जितने अधिक ईनाम दिये जाएंगे, नतीजा उतना ही बुरा होगा।'' विचारधारा को दिवालिया घोषित कर दिया जाएगा और बुरे काम बढ़ते जाएंगे। ऐसे लोग समाजवाद के लिए जनता के उत्साह के सारतत्व को ढूंढ़ निकालने के मामले में अच्छे नहीं थे। उन्हें इस बात पर भरोसा नहीं था कि किन्हीं निश्चित परिस्थितियों के अन्तर्गत कोई चीज बदली जा सकती है। दरअसल, जबकि यह सही है कि मेहनतकश जनता के बीच चेतना का धरातल एक समान नहीं होता और चेतना का रूपान्तरण असमान गति से आगे बढ़ेगा, फिर भी यदि हम सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने व विचारधारात्मक शिक्षा को संचालित करने में पूरी तन्मयता के साथ जुटें और अपने कामों में धैर्य और संजीदगी से काम लें, तो अनुकूल परिणाम हासिल हो सकते हैं।

अध्यक्ष माओ श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। एकाधिक बार उन्होंने कामरेड नॉरमन बेथ्यून की नि:स्वार्थ भावना और जनता के हितों के प्रति कामरेड चाङ चू-तेह के समग्र और सम्पूर्ण समर्पण से सीखने के लिए हम लोगों का आह्वान किया था।* क्रान्ति और जनता के प्रति उनका दिलो-जान से समर्पण सदा-सर्वदा के लिए कम्युनिस्ट पथ को आलोकित करता रहेगा और हमें क्रान्ति के मार्ग पर साहसपूर्वक आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता रहेगा।

अध्ययन के लिए प्रमुख सन्दर्भ

मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना**

लेनिन, ''एक महान शुरुआत'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं,** खण्ड 29

माओ, ''पार्टी के भीतर गलत विचारों को सुधारने के बारे में'', संकलित रचनाएं, खण्ड 1

माओ, ''जनता के बीच अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', भाग 3, 7, 9

समीक्षात्मक प्रश्न

1. ''हरेक से उसकी क्षमतानुसार, हरेक को उसके काम के अनुसार'' के उसूल को पूरी तरह कैसे समझा और लागू किया जा सकता है?
2. समाजवादी मजदूरी और पूंजीवादी मजदूरी में क्या बुनियादी अन्तर हैं?
3. समाजवाद की मंजिल में ''हरेक से उसकी क्षमतानुसार और हरेक को उसके काम के अनुसार'' के उसूल को पूरी तरह लागू करने के साथ-साथ श्रम के प्रति कम्युनिस्ट दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करना क्यों जरूरी है?

टिप्पणियां

1. मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना,** विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1972, पृष्ठ 18.
2. उपरोक्त, पृ. 14
3. उपरोक्त, पृ. 16
4. लेनिन, **राज्य और क्रान्ति**, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1973, पृष्ठ 112
5. माओ, **''चाङ चुन-चियाओ के लेख**, बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में'' में उद्धृत। रेमण्ड लोट्टा सम्पादित ''एण्ड माओ मेक्स फाइव'' में शामिल। पृ. 211
6. मार्क्स, **गोथा कार्यक्रम की आलोचना,** पृ. 16
7. उपरोक्त, पृ. 17
8. मार्क्स, **फ्रांस में गृह युद्ध**, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1974, अंग्रेजी संस्करण, पृष्ठ 64
9. ''सोवियत सरकार के तात्कालिक कार्यभार'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं,** खण्ड 27, पृ. 250, अंग्रेजी संस्करण
10. **लिबरेशन डेली,** येनान, 16 दिसम्बर, 1944
11. ''पार्टी में गलत विचारों को सुधारने के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 1, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 111.
12. माओ, ''चाङ चुन-चियाओ के लेख 'बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में'', ''एण्ड माओ मेक्स फाइव'' में शामिल। पृ. 209
13. उपरोक्त, पृ. 215
14. माओ, ''जनता के बीच के अन्तरविरोधों को सही ढंग से हल करने के बारे में'', **सेलेक्टेड रीडिंग्स, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 453.**
15. ''पुरानी समाज व्यवस्था के नाश से नयी के सृजन तक'', **लेनिन की सम्पूर्ण रचनाएं,** खण्ड 30, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 517.
16. मार्क्स-एंगेल्स, **कम्युनिस्ट घोषणापत्र,** अंग्रेजी संस्करण, पृ. 59.
17. लेनिन, **राज्य और क्रान्ति**, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, पीकिङ, 1973, पृ. 115.
18. ''नवजनवाद के बारे में'', **माओ त्से-तुङ की संकलित रचनाएं,** भाग 2, अंग्रेजी संस्करण, पृ. 379.

(चीन में महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान तैयार की गयी पुस्तक **फण्डामेण्टल्स ऑफ पोलिटिकल इकॉनमी** (*दि शंघाई टेक्स्टबुक* के नाम से प्रसिद्ध) के अंग्रेजी संस्करण से हिन्दी अनुवाद : **सत्यम वर्मा**)

'राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त'
पुस्तक दो खण्डों में **राहुल फाउण्डेशन,** 3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ-226010 से प्रकाशित हुई है।

●

उन नौजवानों की पत्रिका जिन्होंने जीवन और संघर्ष में उम्मीदें नहीं छोड़ी हैं

आह्वान कैम्पस टाइम्स

समाज परिवर्तन की क्रान्तिकारी राह पर चलने वाले छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक : **मुकुल श्रीवास्तव**
सम्पादकीय कार्यालय : **संस्कृति कुटीर, कल्याणपुर, गोरखपुर-273001**
मूल्य : **6 रुपए** वार्षिक : **24 रुपए**

जुलाई-सितम्बर अंक में विशेष

■ शिक्षा पर नया हमला : उच्च शिक्षा के खर्च में भारी कटौती ■ जे.एन.यू. परिसर का जनतंत्र अब प्रशासकों की आंखों में चुभने लगा ■ शासन के खैरख्वाह एक कुलपति की कारस्तानियां ■ मेक्सिको के छात्रों का शानदार, प्रेरक संघर्ष ■ स्वयंसेवी संगठनों से सावधान ■ सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को साम्प्रदायिक रंग में रंगने की कुचेष्टाएं ■ 'संस्कृति के ठेकेदारों' के बढ़ते फासिस्ट हमले ■ भगवा पाठ्यपुस्तकों की एक बानगी ■ अब टाडा से भी खतरनाक 'पोटा' कानून की बारी ■ एक बौराई बर्बर व्यवस्था ■ ओलम्पिक और भारत ■ एक अत्यन्त सामयिक पुस्तक—मां ■ कविताएं : ब्रेष्ट, चन्द्रकान्त देवताले, शशि प्रकाश / कहानी : अर्न्स्ट टोलर / व्यंग्य / : लू शुन ■ करोड़पति बनने को ललचाता दिवालिया महानायक ■ गुर्दों की खेती ■ हालीवुड का नया मसीही उपदेश

पूर्वोत्तर रेलवे द्वारा सेवित सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा प्राकृतिक सुषमा से मण्डित पर्यटकों के लिए

आकर्षक केन्द्र

अयोध्या : पवित्र सरयू तट पर भगवान राम की जन्मभूमि।

इलाहाबाद : गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती का पवित्र संगम। ऐतिहासिक किला, खुरबाग आदि पर्यटकों के लिए अन्य दर्शनीय स्थल।

मथुरा एवं वृन्दावन : पवित्र यमुना के तट पर भगवान कृष्ण की लीला–भूमि।

वाराणसी : पवित्र गंगा के तट पर स्थित पुरातन सांस्कृतिक नगरी तथा मंदिरों, घाटों एवं बाबा विश्वनाथ के मंदिर के लिए प्रसिद्ध।

लखनऊ : गोमती नदी के तट पर स्थित उत्तर प्रदेश की राजधानी एवं ऐतिहासिक इमारतों का शहर।

बहराइच : सैयद सालार मसूद गाजी तथा बाले मियां के मजार के लिए सुविख्यात।

मगहर : प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि एवं संत कबीर की समाधि स्थल।

नौगढ़ : भगवान बुद्ध के जन्म स्थान पिपरहवा (कपिलवस्तु) पहुंचने के लिए निकटतम रेलवे स्टेशन

सारनाथ : भगवान बुद्ध का प्रथम धर्मोपदेश स्थल।

कुशीनगर : भगवान बुद्ध का महा परनिर्वाण स्थल।

श्रावस्ती : जहां भगवान बुद्ध ने चौबीस ऋतु वर्ष व्यतीत किये।

वैशाली : जहां विश्व में सर्वप्रथम गणतंत्र की स्थापना हुई। यहां भगवान महावीर की जन्मस्थली भी है।

सीतामढ़ी : भगवान राम की धर्मपत्नी देवी सीता की जन्मभूमि समीप के स्थित ऐतिहासिक नगर।

सोनपुर : पौराणिक 'गज–ग्राह' का युद्धस्थल जहां प्रसिद्ध हरिहर नाथ जी का मंदिर पशु मेला के लिए भी एशिया में प्रसिद्ध है।

पटना : पवित्र गंगा नदी के तट पर बिहार प्रदेश की राजधानी और प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक नगरी। यह नगर गांधी सेतु के द्वारा इस रेलवे के हाजीपुर से जुड़ा है।

रक्सौल : नेपाल का प्रवेश द्वार। यहां से होकर नेपाल की राजधानी काठमाण्डू जहां पशुपतिनाथ जी का प्रसिद्ध मंदिर है, पर्यटक जाते हैं।

नैनीताल : प्राकृतिक सुषमा से मण्डित पर्यटन स्थल। निकटवर्ती अन्य सैलानी केन्द्र हैं अल्मोड़ा, रानीखेत, कुमांऊ आदि और अन्तरराष्ट्रीय–ख्याति प्राप्त नेशनल जिम कार्बेट पार्क। निकटतम रेलवे स्टेशन काठगोदाम है।

इन दर्शनीय स्थलों के परिभ्रमण के लिए पूर्वोत्तर रेलवे आपकी सेवा में सदैव तत्पर है।

मुख्य जनसम्पर्क अधिकारी
पूर्वोत्तर रेलवे, गोरखपुर

''यदि केवल शब्दों के द्वारा ही किसी जड़ पदार्थ–पिण्ड को गतिमान करना हो तो इस काम की कठिनाइयों की कोई सीमा नहीं है। लेकिन यदि कोई भी भौतिक शक्ति तुम्हारे साथ नहीं है तो कोई दूसरा रास्ता भी नहीं है। ...और कभी–कभी पहाड़ों में हिमस्खलन सिर्फ एक जोरदार आवाज़ से ही शुरू हो जाता है।''

दायित्वबोध को शुभकामनाओं सहित

प्रबल कुमार

(व्यापार कर अधिकारी)
एस.एफ. 166, शास्त्रीनगर
गाजियाबाद

हज कमेटी में व्याप्त भयानक भ्रष्टाचार और
सरकारी बदइंतज़ामी तथा लूट-खसोट के खिलाफ
हाजियों को न्याय दिलाने के लिए सतत संघर्षरत

आल इंडिया हज सेवा समिति

राष्ट्रीय अध्यक्ष

हाफिज़ नौशाद अहमद आज़मी

कार्यालय : बी/92, पाकेट ए, फेज़ 2, मयूर विहार, दिल्ली–92 ☎ (011) 2473429
निवास : ग्राम नगरीपार, पो. बंदीकलां, ज़िला मऊ (उ.प्र.) ☎ (0547) 320394

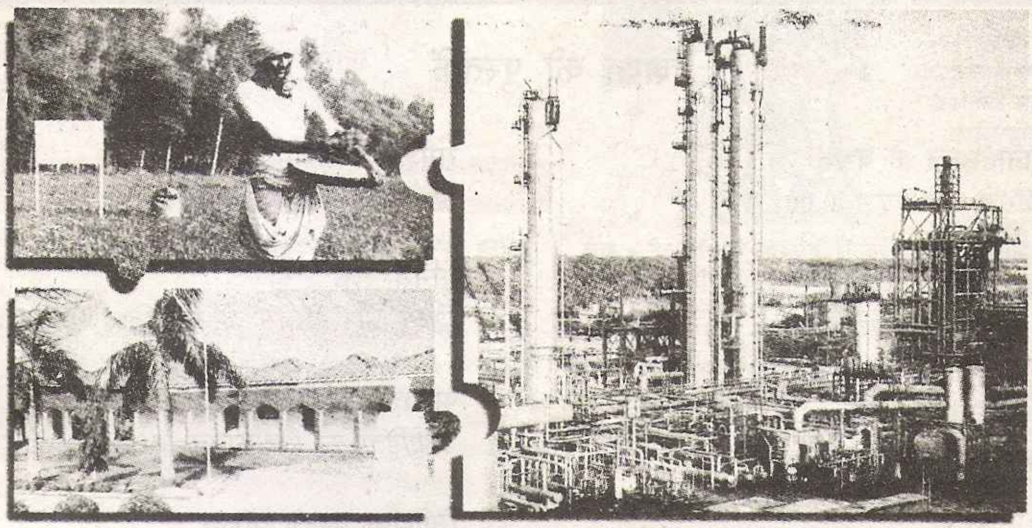

आज देश में अग्रणी
कल विश्व में अग्रणी

किसानों और सहकारिता की सेवा में समर्पित तीन दशक

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड (इफको) भारतीय किसानों के जीवन का हिस्सा है। उर्वरकों के उत्पादन और आपूर्ति करने के अलावा, इफको कृषक समुदाय के समग्र विकास जिसमें कृषि संबंधी वैज्ञानिक जानकारी देना, मिट्टी की जांच, स्वास्थ्य और शैक्षिक कार्यक्रम और सहकारिता आंदोलन को मजबूत करने के कार्य शामिल हैं, के लिए कटिबद्ध है।

नई चुनौतियों का सामना करने के लिए इफको ने विभिन्न विस्तार एवं संवर्धन योजनाएं आरंभ की हैं। इसकी महत्वाकांक्षी योजना 'विजन 2000' के परिणाम मिलने शुरू हो गये हैं। अब इफको ने विश्व स्तर पर सहयोग, विदेशों में संयुक्त उद्यम लगाने और अत्याधुनिक तकनालॉजी को अपनाने की विशिष्ट योजना 'विजन 2005' तैयार की है। नई सदी में प्रवेश करने के साथ ही इफको उर्वरक उद्योग में विश्व की सबसे बड़ी संस्था हो जाएगी।

IFFCO

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

34 नेहरु प्लेस, नई दिल्ली–110019

ALAKANANDA/99

प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं, देश के सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भागीदारी भी है

शिक्षा की पुस्तकें

बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र 150.00

कृष्ण कुमार
शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 125.00

रवींद्रनाथ ठाकुर
रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन 150.00

जोनाथन कोज़ोल
क्रांति की बारह खड़ी 200.00

पाओलो फ्रेरे
प्रौढ़ साक्षरता 125.00

मार्टिन कारनॉय
सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 350.00

जॉन डिवी
शिक्षा और लोकतंत्र 300.00

नरिंदर सिंह
संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 125.00

गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत 125.00

जार्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन 225.00

मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन 225.00

बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा 200.00

रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा 200.00

मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 200.00

पाओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 150.00

सिल्विया एश्टन वॉरनर
अध्यापक 150.00

न्गुगी वॉ थ्योंगो
औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 185.00

सुसांत गुणतिलक
पंगु मस्तिष्क 450.00

अंतोन मकारेंको
शिक्षा की महागाथा (तीन का सेट) 985.00

साधना सक्सेना
शिक्षा और जन आंदोलन 275.00

अनिल सद्‌गोपाल
शिक्षा में बदलाव का सवाल 425.00

परमेश आचार्य
देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 275.00

कृष्ण कुमार
शिक्षा और ज्ञान 150.00

जेम्स ब्रिटन
भाषा और अधिगम (प्रकाश्य)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

दायित्वबोध

हिन्दी में अपने ढंग की अकेली पत्रिका

जिसका हर अंक संग्रहणीय है

पिछले अंकों में प्रकाशित कुछ महत्वपूर्ण सामग्री

नवम्बर'95–फरवरी'96

● साम्राज्यवाद आज भी कागजी बाघ है (भूमंडलीकृत पूंजीवाद के चरित्र और उसके अन्तर्निहित संकट का विस्तृत विश्लेषण) ● सर्वहारा अधिनायकत्व के युग में अर्थनीति और राजनीति : *लेनिन* ● जनवादी केन्द्रीयता का सवाल : *माओ त्से-तुङ* ● शिखर पर रुदन : आत्मविश्लेषण और आत्म आलोचना से आत्म-भर्त्सना तक पश्चिम की विचारयात्रा ● आइजेंस्ताइन और '*पूंजी*' पर फिल्म बनाने की योजना ● माओ और सुरजीत पातर की कविताएं

मार्च–अगस्त 1996

● *रेमण्ड लोट्टा का महत्वपूर्ण लेख :* माओवादी नियोजन का सिद्धान्त और व्यवहार : एक स्वप्नदर्शी और व्यावहारिक समाजवाद के पक्ष में
● भाषा, इतिहास और वर्ग संघर्ष
● आज के दौर में नारीवादी लेखन : कुछ अहम सवाल, कुछ बुनियादी समस्याएं ● *हावर्ड फास्ट के विश्वविख्यात उपन्यास* 'दि अमेरिकन' के अंश

सितम्बर–अक्टूबर 1996

● मार्क्स और पर्यावरण ● क्रान्ति का विज्ञान ● विज्ञान, कला और अधिरचना—*एमिल बर्न्स* ● ताचाई की कहानी ● कम्प्यूटर एवं पूंजीवाद : प्रौद्योगिकी का त्रासद दुरुपयोग
● 'जनवाद' का विभ्रम और सर्वहारा अधिनायकत्व

नवम्बर'96–फरवरी'97

समाजवाद के सिद्धान्त और प्रयोग,
समस्याओं और चुनौतियों पर
विशेष सामग्री

● माओ के अमर अवदान और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति की युगान्तरकारी शिक्षाएं ● स्तालिन : एक मूल्यांकन ● स्तालिन के समय में सोवियत समाजवाद ● रूसी क्रान्ति का मूलभूत अभिप्राय—*रोजा लक्ज़ेमबर्ग* ● सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति क्या, क्यों और किस प्रकार
● सोलहसूत्रीय सर्कुलर ● सांस्कृतिक क्रान्ति के सैद्धान्तिक आधार के बारे में—*जार्ज थामसन* ● कला में विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और यथार्थवाद पर मार्क्स-एंगेल्स
● पाब्लो नेरूदा और माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1997

● मजदूर आन्दोलन पर कुछ सवाल
● पेरिस कम्यून की महान शिक्षाएं
● सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय अमर रहे ● सूचना क्रान्ति का सच

जुलाई–अक्टूबर 1997

● एक ऐतिहासिक विश्वासघात और उसके बाद की अंधकारमय अर्द्धशताब्दी
● *रेमण्ड लोट्टा का लेख :* माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
● *चाङ चुन-चियाओ का लेख:* बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में
● *सेर्गेई आइजेंस्ताइन का लेख:* कला का मनोविज्ञान ● मार्क्सवाद के विरोध में ''नव'' दक्षिणपंथी लोकरंजकतावाद के नये-नये मिथक

नवम्बर '97–फरवरी '98

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की अट्ठाइस कविताएं व ब्रेष्ट पर मोहन थपलियाल का लेख ●

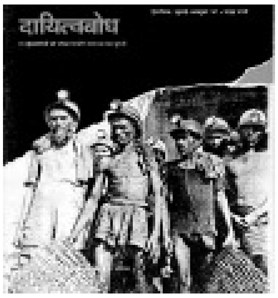

गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठनों और दाता एजेंसियों का असली चरित्र ● मदर टेरेसा और उनके उत्तराधिकारियों का ''मिशन'' : सेवा का सच
● महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज ● माओ त्से-तुङ की कविताएं

मार्च–जून 1998

चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस में प्रस्तुत रिपोर्ट ● 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की 150वीं वर्षगांठ पर विशेष लेख ● ग्राम्शी का लेख 'बुद्धिजीवी' ● पूंजीवाद की पूंजीवादी समालोचना के निहितार्थ
● मदर टेरेसा : मिथक और यथार्थ
● शशि प्रकाश की पच्चीस कविताएं

जुलाई–दिसम्बर 1998

ब्रेष्ट, लोर्का और रॉबसन की जन्मशती के अवसर पर विशेष सामग्री :

● बेर्टोल्ट ब्रेष्ट और उनका थियेटर
● लोर्का की कविताएं ● लोर्का पर नेरूदा की कविता ● रॉबसन पर नाजिम हिकमत की कविता
● पीकस्किल में पॉल रॉबसन
● उत्तर- औपनिवेशिक सिद्धान्त और 'उत्तर' -अवस्था : *एजाज अहमद* ● गैर सरकारी संगठनों का असली मिशन
● भूण्डलीकरण और सामाजिक विज्ञान
● माओकालीन चीन में मार्क्सवाद : *जार्ज थामसन*
● हेनरिख हाइने, फर्डिनांड फ्रेलिग्राथ, जार्ज वेयेर्थ और पाब्लो नेरूदा की कविताएं

जुलाई–सितम्बर 1999

● स्वयंसेवी संगठनों और दाता-एजेंसियों का नेटवर्क : एक खतरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र
● तीसरी दुनिया में कृषि-अनुसंधान का ढांचा ● भारतीय क्रान्ति व कृषि प्रश्न ● कम्युनिस्ट लीग (1847-1852) का इतिहास ● बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति 'थियेटर का एक संक्षिप्त तर्कशास्त्र'

अक्टूबर–दिसम्बर 1999

● जनता के सांस्कृतिक आन्दोलन की चुनौतियां ● ''उदारीकरण'' के आठ वर्ष ● *चीनी क्रान्ति की अर्द्धशती पर* 'बीसवीं सदी की दूसरी महानतम क्रान्ति और उसकी प्रासंगिकता'
● बुर्जुआ से सर्वहारा क्रान्ति की ओर : *जार्ज थामसन* ● मूलाधार और अधिरचनाओं के सम्बन्ध के बारे में : *वी.एन. वोलोशिनोव* ● भारत, बांग्लादेश, पाकिस्तान के विद्रोही कवि काजी नजरुल इस्लाम
● *इस्तवान मेस्जारोस* की चर्चित कृति 'बियॉण्ड कैपिटल' की समीक्षा

जनवरी–मार्च 2000

● कम्युनिस्ट घोषणापत्र की स्मृति में : *अंतोनियो लाब्रियोला* और *रेमंड लोट्टा* के महत्वपूर्ण लेख ● जार्ज लुकाच के विरोध में : *ब्रेष्ट* ● कहां हैं हमारी भाषा के वे कारीगर हाथ : *आलोक श्रीवास्तव* ● माओवादी चीन में स्त्रियां
● महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दस्तावेज और लेख
● नजरुल की कविता 'विद्रोही'
● नये वर्ष में हड़तालों की लहर और इसकी विफलता के सबक

पत्रिका के पुराने अंकों के लिए लिखें :
प्रसार व्यवस्थापक
दायित्वबोध
3/274, विश्वास खण्ड,
गोमतीनगर,
लखनऊ–226010

प्रत्येक अंक का मूल्य : पन्द्रह रुपए

 RNI No. 57527/93, Postal Registration No. GR-1110

बेहतर ज़िन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है!

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

शहीदेआजम की जेल नोटबुक
एक महान विचारयात्रा का दुर्लभ साक्ष्य • भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज • भगतसिंह की शहादत के 68 वर्ष बाद हिन्दी में पहली बार प्रकाशित ❑ पृष्ठ 200 • 50 रुपये

विचारों की सान पर
भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज़, पत्र और वक्तव्य ❑ पृष्ठ 104 • 20 रुपये

माओ त्से-तुङ की कविताएं
राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियों के साथ
अनुवाद एवं सम्पादन : *सत्यव्रत* ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

चुनी हुई कहानियां : मक्सिम गोर्की (पहला खण्ड)
पृष्ठ 168 • 35 रुपये

चिरस्मरणीय
कय्यूर के किसान आन्दोलन के शहीदों पर लिखा **निरंजन** का प्रसिद्ध कन्नड़ उपन्यास, अनुवाद : *रामकृष्ण पाण्डेय* ❑ पृष्ठ 168 • 35 रुपये

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कविताएं और तीस छोटी कहानियां
मूल जर्मन से अनुवाद : *मोहन थपलियाल* ❑ पृष्ठ 148 • 60 रुपये

लहू है कि तब भी गाता है —पाश
(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)
संपादक : *चमनलाल एवं कात्यायनी* ❑ पृष्ठ 176 • 75 रुपये

पांच कहानियां : पुश्किन ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

दो अमर कहानियां : लू शुन ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

श्रेष्ठ कहानियां : प्रेमचंद ❑ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

तीन कहानियां : गोगोल ❑ पृष्ठ 144 • 30 रुपये

दुर्ग द्वार पर दस्तक
कात्यायनी ❑ पृष्ठ 152 • 50 रुपये (द्वितीय संशोधित संस्करण)

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य
रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन
पृष्ठ 104 • 25 रुपये

समर तो शेष है...
इप्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहगीतों का अनन्य संकलन ❑ पृष्ठ 144 • 35 रु. रुपये

क्रान्ति का विज्ञान
लेनी वुल्फ ❑ पृष्ठ 36 • 10 रुपये

अब इंसाफ होने वाला है
उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन
संपादक : *शकील सिद्दीकी* ❑ पृष्ठ 248 • 75 रुपये

मध्यवर्ग का शोकगीत
हान्स माग्नुस एंत्सेंसबर्गर की कविताएं
सम्पादन एवं अनुवाद : *सुरेश सलिल* ❑ पृष्ठ 72 • 25 रुपये

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

माओ त्से-तुङ की रचनाओं के उद्धरण	35 रुपये
Quotations from Mao Tse-Tung	40 रुपये
पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन —*लेनिन*	15 रुपये
द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद —*वी. अदोरात्सकी*	15 रुपये
राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में) (दि शंघाई टेक्स्टबुक आफ पोलिटिकल इकॉनमी) प्रत्येक खण्ड :	60 रुपये
कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र —*कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स*	10 रुपये
बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू करने के बारे में —*चाङ चुन-चियाओ*	3 रुपये
मई दिवस का इतिहास —*अलेक्जेण्डर ट्रैक्टनबर्ग*	3 रुपये
अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन —*एल्बर्ट रीस विलियम्स*	75 रुपये

दायित्वबोध पुस्तिका श्रृंखला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं —*दीपायन बोस*	10 रुपये
समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति —*शशिप्रकाश*	12 रुपये
क्यों माओवाद —*शशिप्रकाश*	10 रुपये

बिगुल पुस्तिका श्रृंखला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा —*वी.आई. लेनिन*	5 रुपये
मकड़ा और मक्खी —*विल्हेल्म लीब्कनेख्त*	2 रुपये
ट्रेडयूनियन काम के जनवादी तरीके —*सर्जी रोस्तोवस्की*	2 रुपये

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :

जनचेतना
3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर,
लखनऊ-226 010 ✆ (0522) 308896
(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 12 रुपए रजिस्ट्री शुल्क जोड़कर ड्राफ्ट या एम.ओ. भेजें)